

# ‘डिकोलोनियलिटी’ का एक भारतीय प्रसंग

रामविलास शर्मा, मार्क्स और विरोधाभासों के बीच ‘ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना’

अभय कुमार दुबे

पहली (समस्या) यह है कि ज्ञान और उसका उत्पादन करने वाली पद्धतियों का विउपनिवेशीकरण कैसे किया जाए। कितने भी असमान ढंग से क्यों न हुई हो, उपनिवेशवाद की रचना इसी के साथ-साथ होती गई है। इसलिए, विउपनिवेशीकरण न केवल उपनिवेशितों के ज्ञान का, बल्कि उपनिवेशक के ज्ञान का भी विउपनिवेशीकरण करने की ज़रूरत पर जोर देता है।  
—बोवेंचुरा डिसूज़ा सांतोस<sup>1</sup>

मार्क्सवाद भारत को समझने के लिए ज़रूरी है, और भारत मार्क्सवाद को समझने के लिए ज़रूरी है। यह बात दर्शन के क्षेत्र में और लागू होती है। मार्क्सवाद से हमें कुछ बुनियादी सरणियाँ मिल जाती हैं, रास्ते मिल जाते हैं जिससे हम सारे प्रपंच को देखना शुरू करते हैं। उसमें जितना ही आप भीतर घुसते हैं, उतना ही मार्क्सवाद को भी दूसरी ही निगाह से देखते हैं। यह भी दिखाई देने लगता है कि उसमें क्या अच्छाइयाँ हैं, क्या बुराइयाँ हैं। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यह कहना सही न होगा कि मैं मार्क्सवादी दृष्टि से ऋग्वेद का विश्लेषण कर रहा हूँ, और यह कहना भी सही न होगा कि मैं वैदिक दृष्टि से मार्क्सवाद का विश्लेषण कर रहा हूँ।  
—रामविलास शर्मा<sup>2</sup>

फिर क्या कहना सही है? अगर ‘सही’ की विश्वसनीय प्रतीति न हो, तो प्रश्न करने के अलावा कोई चारा नहीं रह जाता। अतएव, इस आलेख में मैं मुख्यतः दो प्रश्न उठा रहा हूँ। पहला, क्या रामविलास शर्मा मार्क्स और मार्क्सवाद को भारतीय दर्शन और एशियायी विचार-परम्परा का आधार दे कर उसका ‘डिकोलोनियल’ संस्करण तैयार करने का दुस्साहस कर रहे थे? दूसरा, क्या इस प्रक्रिया में उनके हाथ से जाने-अनजाने भारतीय समाज और इतिहास से संबंधित वामपंथी (या गैर-पूँजीवादी) चिंतन को ‘डिकोलोनियल’ बनाते हुए एक तरह की ‘ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना’ की परियोजना अपने शुरुआती क्रम उठा रही थी? हो सकता है कि उनका विमर्श इन दोनों धुरियों पर चल रहा हो। अगर ऐसा है तो उसके किस आयाम को ज़्यादा सफल माना जा सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर के ज़रिये मैं इस लेख में ‘डिकोलोनियलिटी डिस्कॉर्स’ के एक ऐसे भारतीय प्रसंग को सामने लाना चाहता हूँ जो इस विमर्श के उभरने से कुछ पहले (अस्सी और नब्बे के दशक में) हिंदी-क्षेत्र और हिंदी भाषा में घटा था। जितना देख पाने में मैं समर्थ हुआ हूँ, उससे मुझे लगता है कि मार्क्सवाद को उसकी युरोकेंद्रीयता से मुक्त करके गैर-पश्चिमी आधार देने का रामविलासीय दुस्साहस विफल होने के लिए अभिशप्त था। हम लोग ज़्यादा से ज़्यादा इससे संबंधित उनकी हिम्मत और बौद्धिक पराक्रम की सराहना कर सकते हैं। लेकिन यह करने के लिए उन्होंने भारतीय दर्शन, इतिहास और समाज का अध्ययन करने के जो तौर-तरीके प्रस्तावित किये और जिनका इस्तेमाल करके वे भारत के बारे में कुछ कम प्रचलित/दब चुकीं/दबा दी गई सच्चाइयों की तरफ इशारा कर पाए— उसे भारत में ‘डिकोलोनियलिटी-विमर्श’ के प्रारम्भिक रूपों की तरह देखा जा सकता है।

<sup>1</sup> देखें, बोवेंचुरा डिसूज़ा सांतोस (2018), *द ऐंड ऑफ़ द कोगिटिव एम्पायर : द कमिंग ऑफ़ एज ऑफ़ द इपिस्टिमोलॉजीज ऑफ़ द साउथ*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम और लंदन : 107.

<sup>2</sup> देखें, रामविलास शर्मा से जनसत्ता प्रतिनिधि की बातचीत (18 अक्टूबर, 1992 को प्रकाशित), ‘मार्क्सवाद, ऋग्वेद और हिंदी समाज’, *मेरे साक्षात्कार* (1994), किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली : 304.

इस लेख के शुरुआती हिस्से में 'डिकोलोनियलिटी' के विमर्श की आठ सूत्रों के रूप में परिचयात्मक चर्चा की गई है ताकि खास तौर से हिंदी और आम तौर से भारतीय पाठकों के बीच न के बराबर प्रचलित इस प्रत्यय की रूपरेखा स्पष्ट हो सके। इसके बाद लेख के अगले हिस्से में युरोकेंद्रीयता की व्यापकता और उसकी आलोचना के प्रमुख प्रकारों पर रोशनी डाली गई है। इसी के साथ 'डिकोलोनियलिटी' के सूत्रों के साथ रामविलास शर्मा की नज़दीकी और दूरी का एक विश्लेषण भी है। इसके बाद मार्क्सवाद और उसकी युरोकेंद्रीयता की चर्चा की गई है। इसमें दिखाया गया है कि रामविलास शर्मा जैसे अपवादों को छोड़ कर मार्क्सवाद भारतीय परम्परा को समझने में न केवल बाधक साबित हुआ है, बल्कि उसके कारण परम्परा की एक नकारात्मक और विकृत समझ ही प्रोत्साहित हुई है। दूसरे, मार्क्सवाद के पास न केवल उपनिवेशवाद की मुकम्मल आलोचना करने के औजारों का अभाव है, बल्कि वह उपनिवेशवाद के प्रति भारतीयों को एक द्वैध से ग्रस्त भी कर देता है। इसलिए उसने भारतीयों की औपनिवेशिक आत्मचेतना, और उसके परिणामस्वरूप पनपी आत्महीनता को और मज़बूत किया है। मार्क्सवाद के संबंध में मैंने इस लेख में यह भी कहा है कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के समीकरण से संबंधित लेनिनीय नवाचार के कारण मार्क्सवादी परियोजना उपनिवेशवाद की भींच में फँसे गैर-पश्चिमी समाजों के राष्ट्रवादी संघर्षों के लिए एक हद तक उपयोगी अवश्य बन सकी, लेकिन यह उपक्रम औपनिवेशिक सत्ता के राष्ट्रवादी हस्तांतरण (यानी डिकोलोनाइजेशन) तक ही सीमित रह गया। लेनिन की अपनी स्पष्ट और मुखर युरोकेंद्रीयता ने इस मार्क्सवाद को विमर्श, ज्ञानोत्पादन और संस्कृति के धरातल पर घटित हो सकने वाली 'डिकोलोनियलिटी' का हिस्सा नहीं बनने दिया। लेख के ज़्यादा बड़े हिस्से में रामविलास शर्मा द्वारा अस्सी और नब्बे के दशक में लिखी गई पुस्तकों के ज़रिये उनकी चार प्रमुख युक्तियों की समीक्षा की गई है। इन युक्तियों के माध्यम से रामविलास शर्मा मार्क्स को युरोकेंद्रित माने बिना उनकी युरोकेंद्रीयता का परिहार करने का उद्यम करते हुए दिखते हैं। उनकी चौथी युक्ति में वे सकारात्मक आयाम हैं जो भारत के 'डिकोलोनियल-विमर्श' का हिस्सा बन सकते हैं।

इसी चौथी युक्ति का विश्लेषण करने के लिए मैंने युरोकेंद्रीयता की रैडिकल आलोचना करने वाली विद्वत्ता (मार्टिन बरनाल, समीर अमीन, लुत्फ़ी सोनार, वासिलस लेम्ब्रोपोलॉस, इमानुएल वालरस्टीन, दीपेश चक्रवर्ती, आरिफ़ डालिक जैसे विद्वानों के अलावा 'डिकोलोनियल' प्रोजेक्ट चला रही क्रिहानो, डसेल, मिग्नोलो, सांतोस, ग़ोसफ़ुगल आदि की हिस्पानिक विद्वत्तमंडली) का सहारा लिया है। कहना न होगा कि युरोकेंद्रीयता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने वाले इन विद्वानों का विमर्श एकसार नहीं है। दरअसल, ये अलग-अलग वैचारिक प्रवृत्तियों की नुमाइंदगी करते हैं। इनमें से कुछ की रचनाएँ तो युरोकेंद्रीयता की आलोचना के विभिन्न प्रारूपों की तरह श्रेणीबद्ध की जा सकती हैं। 'डिकोलोनियलिटी' का विचार भी इनमें से एक प्रारूप है, एक ऐसा प्रारूप जो मेरी निगाह में इन सभी से रैडिकल दिखाई पड़ता है। इसलिए मुख्य तौर पर मेरा फ़ोकस 'डिकोलोनियलिटी' पर होगा, पर मैं यह देखने की कोशिश भी करूँगा कि इन सभी प्रारूपों और प्रवृत्तियों की कौन-कौन सी ख़ामियाँ-ख़ूबियाँ रामविलासीय उद्यम में झलकती हैं; और, 'डिकोलोनियलिटी' की संभावनाओं की तरफ़ इशारा करने वाला यह भारतीय प्रसंग हमें भारतीय दायरे में ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना की डगर पर किस हद तक चला सकता है।

### 'डिकोलोनियलिटी' का विमर्श और भारतीय विद्वत्ता

मोटे तौर पर 'डिकोलोनियलिटी' वहाँ से शुरू होती है जहाँ डिकोलोनाइजेशन खत्म होता है। उपनिवेशकों के हाथ से राष्ट्रवादी अभिजन द्वारा राजनीतिक प्रभुसत्ता हस्तगत करने का नाम डिकोलोनाइजेशन है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता हासिल करने के बाद औपनिवेशिक विमर्श की वाहक युरोकेंद्रित ज्ञानमीमांसा के साथ जद्दोजहद करते हुए 'दक्षिण' के ज्ञान पर आधारित ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना का नाम 'डिकोलोनियलिटी' है। बोवेंचुरा डिसूज़ा सांतोस की निगाह में इस पुनर्रचना की खास बात यह है कि यह केवल उपनिवेशित रह चुके समाजों के लिए ही नहीं होनी है, बल्कि उपनिवेशकों के ज्ञान

को भी इस पुनर्रचना के दौर से गुजरना है। सांतोस 'डिकोलोनियलिटी' की वैचारिक-परियोजना के प्रमुख हस्ताक्षरों में से एक हैं। नब्बे के दशक से शुरू हुआ और मुख्य तौर पर दक्षिण अमेरिकी मूल के विद्वानों द्वारा चलाया गया यह प्रोजेक्ट दुनिया के पैमाने पर युरोकेंद्रीयता पर सतत आक्रमण और ग़ैर-युरोपीय वैकल्पिक ज्ञानमीमांसा के सूत्रीकरण की ज़मीन तैयार करने में लगा हुआ है।

भारत के उदाहरण पर ग़ौर करने से यह बात और स्पष्ट हो सकती है। भारत में विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया 15 अगस्त, 1947 में उस क्षण तक तो चली तक्ररीबन जब हमारे राजनीतिक-सांस्कृतिक अभिजन ने राष्ट्रवाद का इस्तेमाल करके उपनिवेशकों के हाथों से सत्ता छीनने में सफलता प्राप्त की। निश्चित रूप से यह एक ऐतिहासिक उपलब्धि थी, पर इसके बाद विऔपनिवेशिकता की जो प्रक्रिया चलनी चाहिए, वह नहीं चली। सत्तारूढ़ अभिजन ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता के नाम पर ठीक वही किया, औपनिवेशिक महाप्रभु करते थे। राजनीतिक सिद्धांत, संस्थागत संरचना, राज्य का रूप और शासन का तरीका भी वही रहा। राजनीतिक आर्थिकी भी वही रही। संस्कृति के क्षेत्र में भी वही प्रक्रियाएँ चलाई गईं जो औपनिवेशिक दासता के दौरान चल रही थीं। शिक्षा-व्यवस्था भी नहीं बदली, पाठ्यक्रम भी वही बने रहे। भाषाओं को भी वैसा ही बनाये रखा गया, जैसी औपनिवेशिक भाषाशास्त्रियों द्वारा बना दी गई थीं। केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता बदली। इस विडम्बना को कभी-कभी ही रेखांकित किया जाता है कि भारत में उसी राष्ट्रवाद के तहत उपनिवेशवाद का उत्तर-जीवन शुरू हुआ जिसके नेतृत्व में लम्बे संघर्ष के बाद औपनिवेशिक राज्य को पराजित किया गया था।

1989 में पेरूवियन समाजशास्त्री एनिबाल क्रिहानो ने 'कोलोनियलिटी ऐंड मॉडर्निटी/रैशनलिटी' शीर्षक से स्पेनिश में एक लेख लिखा। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 2007 में प्रकाशित हुआ।<sup>3</sup> क्रिहानो के लेख की खास बात यह थी कि उसका पूरा फ़ोकस ज्ञानोत्पान की प्रक्रिया पर था। इस छोटी-सी, लेकिन अनूठी रचना ने एक नयी बौद्धिक परियोजना की शुरुआत की जिसके केंद्र में 'डिकोलोनियलिटी' की अवधारणा थी। 'डिकोलोनियलिटी' का मतलब था पश्चिमी ज्ञानमीमांसा द्वारा उपनिवेशित लातीनी अमेरिकी, अफ्रीकी और एशियायी मानस को 'एपिस्टिमिक रिकांस्टीट्यूशन' यानी ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना के रास्ते पर चलाने का बीड़ा उठाना। वाल्टर मिग्नोलो, एनरिके डसेल, आरतुरो एस्कोबार, नेल्सन मेल्डोनाडो टोरेस, रैमन ग़ोसफ़ुगल, बोवेंचुरा डिसुज़ा सांतोस आदि विद्वानों की टोली ने क्रिहानो के हाथ से झंडा ले कर उसे दुनिया के पैमाने पर एक प्रभावशाली बौद्धिक परियोजना की शकल प्रदान की। इस प्रोजेक्ट ने स्वयं को बीसवीं सदी की शुरुआत के गाँधी से भी जोड़ा। साठ और सत्तर के दशक की अफ्रीकन विद्रुता (फ़्रांज़ फ़ानो, एमी सिज़ेयर आदि) को अपने आगोश में लिया। अस्सी के दशक के भारतीय आशिस नंदी और नब्बे के दशक के पार्थ चटर्जी जैसे विद्वानों से भी रिश्ता बनाया। डिकोलोनियलिटी या विऔपनिवेशिकता या ज्ञानमीमांसक पुनर्रचना के प्रमुख पहलुओं को इस प्रकार समझा जा सकता है—

1. उपनिवेशवादी विमर्श एक साभ्यतिक मोक्ष की दावेदारी लेकर आया जिसमें युरोप की शिनाख़्त इस मोक्ष के स्रोत और केंद्र के तौर पर की गई थी। युरोप के हाथों ही बाकी दुनिया को यह मोक्ष प्राप्त होना था। पिछले पाँच सौ साल में इस मोक्ष की आपस में जुड़ी कई डिज़ाइनें सामने आ चुकी हैं। मसलन, जो मोक्ष पहले ईसाइयत में धर्मांतरित होने से जुड़ा हुआ था, वह दूसरे चरण में प्रगति और सभ्यता के वाहक मोक्ष में बदला। फिर इसी ने विकास और आधुनिकीकरण का वरदान देने वाले मोक्ष की शकल ग्रहण की। आजकल यही मोक्ष ग्लोबल मार्केट और उदारतावादी लोकतांत्रिक राज्य के समीकरण के जरिये दुनिया भर को थमाया जा रहा है।

2. आधुनिकता और औपनिवेशिकता पश्चिमी सभ्यता के दो स्तम्भ हैं। इन्हें ज्ञान की संकुल और बुहआयामी संरचना के सहारे टिकाया गया है। यह संरचना दो चरणों में परवान चढ़ी। पहले चरण में चौथी-पाचवीं सदी से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं सदी के दौरान हेलेनिक दर्शन और ईसाई धर्मशास्त्र के बीच एक समीकरण बना। इसके परिणामस्वरूप

<sup>3</sup> एनिबाल क्रिहानो (2007), 'कोलोनियलिटी ऐंड मॉडर्निटी/रैशनलिटी', *कल्चरल स्टडीज़* 21 2-3 : 168-178.

पूरब में पनपी ईसाई आध्यात्मिकता से भिन्न क्रिस्म की युरोक्रीश्चियनिटी का उदय हुआ। इन्हीं सदियों के दौरान पश्चिम के ईसाई राज्य और ईसाई समाज की रचना हुई। इसके बाद औपनिवेशिक काल के दौरान पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी के युरोपीय पुनर्जागरण और अठारहवीं सदी के युरोपीय ज्ञानोदय ने युरोक्रीश्चियनिटी के मूलभूत प्रत्ययों पर मानवतावाद, विज्ञान और सेकुलरवाद का मुलम्मा चढ़ा कर पश्चिम की आधुनिक ज्ञानमीमांसा का शीराजा खड़ा किया।

3. अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जर्मन रोमांटिसिज़म ने भाषा, धर्म और राष्ट्र का पैकेज बनाया। बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) की भाषाई विचारधारा (बहुभाषिता के ऊपर एकभाषिता की सर्वोच्चता और भाषा परिवारों की अवधारणा) की चालक-शक्ति से सम्पन्न ऐतिहासिक भाषाशास्त्र (फ़िलोलॉजी), भाषा-विज्ञान (लिंगुइस्टिक्स) और प्राच्यवाद (ओरिएंटलिज़म) के औज़ारों से युरोकेंद्रित 'आर्य-मॉडल' की रचना की गई। इससे आधुनिक नस्लवाद का सभ्यतामूलक प्रारूप तैयार हुआ।

4. यही वह दौर था जब युरोपीय विद्वानों ने एशिया के वैचारिक इतिहास को हड़प कर उसे युरोप का प्राक्-इतिहास घोषित कर दिया। ऐसा करने से उन्हें अरबों के योगदान को पूरी तरह से अदृश्य करते हुए खुद को यूनानी दर्शन और ग्रीको-रोमन सभ्यता का उत्तराधिकारी घोषित करने की सुविधा मिल गई। परिणामस्वरूप उन्होंने पश्चिम के इतिहास को यूनानी दर्शन+रोमन राज्य-निर्माण+ईसाई मूल्य+मानवतावाद+वैज्ञानिकता+तर्कपरकता की प्रयोजनमूलक रैखिकता में पेश किया गया।

5. नाना प्रकार की संस्थाओं और अभिकर्ताओं की भूमिका, ग़ैर-युरोपीय भाषाओं के उपनिवेशीकरण, युरोपीय तर्ज के विश्वविद्यालयों के प्रसार, तरह-तरह के विरोधाभासों और अंतर्विरोधों के ज़रिये संसाधित पूँजीवाद समर्थित सत्ता की ग्लोबल मैट्रिक्स, एवं उसकी आधारभूत 'कोलोनियलिटी' ने इस पूरे प्रपंच की निरंतरता को सुनिश्चित किया। इसी की संकेंद्रित अभिव्यक्ति के रूप में युरोकेंद्रीयता के चौरफा और विश्वव्यापी प्रभाव के तहत आधुनिक विश्व में ज्ञानोत्पादन की प्रक्रिया का समरूपीकरण हुआ।

6. युरोपीय सत्ता की ग्लोबल मैट्रिक्स ने दुनिया के पैमाने पर आबादी पर एक नस्ली वर्गीकरण आरोपित किया है। नयी आबादीमूलक सामाजिक पहचानों (व्हाइट, ब्लैक, कलर्ड, ब्राउन, भारतीय, नीग्रो, यलो, ओलाइव) के साथ युरोपीय, एशियाटिक, अफ्रीकी अस्मिताओं में सारी दुनिया को बाँट दिया गया है। यह प्रक्रिया औपनिवेशिक काल से ही चल रही है और अब रूढ़ हो चुकी है। इसका कितना भी विरोध किया जाए, 'कोलोनियलिटी' ने इसे मनुष्य के मानस का अनिवार्य हिस्सा बना दिया है।

7. ज्ञान की इस युरोकेंद्रित संरचना से सम्पर्क तोड़ने (डिलिंकिंग) का मतलब ही डिकोलोनियलिटी है। इसके लिए ज़रूरी है कि पुनर्जागरण और ज्ञानोदय से निकली ज्ञानमीमांसात्मक मान्यताओं को बुनियादी चुनौती दी जाए। इस ज्ञानमीमांसा की शुरुआती स्थापना यूनानी और लैटिन में हुई थी। फिर उपनिवेशवाद के शुरुआती दौर में रिनैसाँस से निकली तीन भाषाओं (स्पेनिश, पुर्तगाली और इतालवी) और उपनिवेशवाद की मज़बूती के दौर में ज्ञानोदय से निकली तीन भाषाओं (अंग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन) के ज़रिये इसे विकसित और वर्चस्वी बनाया गया। इसलिए इन भाषाओं के बजाय बजाय उपनिवेशित रह चुके समाजों की भाषाओं में ज्ञानोत्पादन को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस लिहाज़ से 'डिकोलोनियलिटी' का भाषिक आयाम बेहद महत्वपूर्ण है।

8. डिलिंकिंग का मतलब औपनिवेशिक ज्ञान को एकतरफ़ा खारिज करने से नहीं है। ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना के दायरे में उपनिवेशकों का ज्ञान भी आता है। इस युरोकेंद्रित ज्ञान की भी पुनर्रचना करनी होगी। साथ ही, इस प्रक्रिया में आधुनिकता और युरोकेंद्रीयता की उन युरोकेंद्रित आलोचनाओं के फेर में फँसने से बचना होगा जो मुख्यतः पश्चिमी ज्ञानमीमांसा का नैरंतर्य सुनिश्चित करने के लिए तैयार की गई हैं। मार्क्सवाद भी एक ऐसी ही संरचना है जो पूँजीवाद का विलोम पेश करते हुए दूसरे रास्ते से अंततः युरोकेंद्रीयता की ही सेवा करती नज़र आती है। फूको, दरिदा जैसे नव-चिंतक ज़्यादा से ज़्यादा युरोकेंद्रीयता के दायरे में कुछ नये पन की खोज का समावेश करके रह जाते हैं। पोस्ट-मॉडर्न,

पोस्ट-कोलोनियल, पोस्ट-मार्क्सिज्म— ये सभी बौद्धिक परियोजनाएँ रिनेसाँस और ज्ञानोदय से निकली विचार-सरणियों को ही पुष्ट करती हैं।<sup>4</sup>

इस मुकाम पर यह कहना जरूरी है कि डिकोलोनियलिटी की वैचारिक परियोजना मोटे तौर पर भारतीय समाज-वैज्ञानिकों को प्रभावित करने में नाकाम रही है। भारत में ज्ञानोत्पादन के काम में लगे हुए विद्वान आम तौर पर युरोकेंद्रित वैचारिकी के साथ स्वयं को सहज पाते हैं। यह रवैया उन पर इस क्रूर हावी है कि समाज-विज्ञान के क्षेत्र में जब भी युरोकेंद्रियता को चुनौती देने की कोशिश होती है, तो उसकी अनुक्रिया में तीन तरह की रणनीतियाँ अपनायी जाती हैं— युरोकेंद्रियता की आलोचना के कुछ पहलुओं को स्वीकार करते हुए भारतीय समाज के लिए उसके कथित रूप से उपयोगी आयामों (जैसे समतामूलकता, उदारतावाद आदि) के नाम पर उसे जारी रखने का आग्रह; भारतीय समाज की आधुनिकतावादी पुनर्रचना के नाम पर युरोकेंद्रियता का खुल कर समर्थन; और, एक सामरिक चुप्पी अख्तियार करके युरोकेंद्रिय समाज-वैज्ञानिक कार्य-व्यापार में लगे रहना।<sup>5</sup> इसी तरह एक और प्रश्न है भाषा का। भारतीय विद्वान अपनी अंग्रेजी-केंद्रियता के कारण इस प्रश्न से कतराने की हरचंद कोशिश करते हैं। दरअसल, भारतीय विद्वानों को लगता है कि युरोकेंद्रियता और उसकी वाहक अंग्रेजी भाषा का विरोध करने का मतलब होगा स्वयं अपने बौद्धिक प्रशिक्षण, करियर और युरोप-अमेरिका केंद्रित ज्ञानोत्पादन के संसार में अपनी अवस्थिति को ही चुनौती देना। जैसा कि ऊपर दिये गए पाँचों बिंदुओं से स्पष्ट है, 'डिकोलोनियलिटी' बुनियादी रूप से रिनेसाँस और ज्ञानोदय से उपजी और युरोप की छह साम्राज्यिक भाषाओं में स्थापित और विकसित की गई ज्ञानमीमांसा के प्रतिकार की शर्त पर आधारित है। युरोपीय भाषाओं के साम्राज्यिक प्रभुत्व (भारत के संदर्भ में अंग्रेजी) के साथ-साथ रिनेसाँस और ज्ञानोदय से निकली धारणाओं के साथ संघर्ष किये बिना 'डिकोलोनियलिटी' के मर्म को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

### युरोकेंद्रियता की भूमंडलीय व्यापकता और उसकी आलोचनाएँ

युरोसेंट्रिज्म या युरोकेंद्रियता के आलोचक इस मामले में तक्ररीबन एकमत हैं कि वे जिस 'सेंट्रिज्म' या केंद्रियता की आलोचना कर रहे हैं, उसका मौजूदा रूप अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में परवान चढ़ी युरोपीय स्वजाति-उत्कृष्टता (एथनोसेंट्रिज्म) के गर्भ से निकला था, लेकिन आज के जमाने में उसके व्यापक दबदबे को युरो-अमेरिकी सत्ता-संरचनाओं के हवाले के बिना नहीं समझा जा सकता। आरिफ़ डर्लिक के अनुसार इन सत्ता-संरचनाओं ने ही इस केंद्रियता का उत्पादन-पुनरुत्पादन किया है, उसके प्रभावों को वैश्विक धरातल पर फैलाया है, और उसकी ऐतिहासिक दावेदारियों का सार्वभौमीकरण करने में सफलता प्राप्त की है। डर्लिक इस बात को खास तौर पर रेखांकित करते हैं कि दुनिया में कई तरह की केंद्रियताएँ हैं, और कई तरह की स्वजाति-उत्कृष्टताएँ अपने आग्रहों-दुराग्रहों-पूर्वग्रहों के साथ मौजूद हैं। लेकिन, ऐतिहासिक रूप से युरोकेंद्रियता एक अलग तरह की शै है—

युरोकेंद्रियता एक ऐसी केंद्रियता है जिसने ऐतिहासिक रूप से पूरे भूमंडल को अपने भीतर समेट लिया है। इस केंद्रियता ने जीवन के उन स्तरों को भी प्रभावित करने में सफलता हासिल की है जिन्हें इससे होड़ करने वाली केंद्रियताओं ने कोई खास तवज्जो

<sup>4</sup> ये आठ बिंदु मैंने क्रिहानो के उक्त लेख, वाल्टर मिग्नोलो के दो साक्षात्कारों और एनरिके डसेल के लेख 'युरोप, मॉडर्निटी और युरोसेंट्रिज्म' के आधार पर तैयार किये हैं. देखें, वाल्टर मिग्नोलो से अल्विना हॉफ़मेन की बातचीत (दो खंडों में) (2017), ई-इंटरनैशनल रिलेशंस द्वारा प्रसारित, <https://www.e-ir.info/2017/01/21/interview-walter-mignolopart-2-key-concepts/> पर उपलब्ध. डसेल (2000) के लेख के लिए देखें, *नेपांतला : व्यू फ्रॉम साउथ*, खंड 1, अंक 3, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क. <https://www.google.com/search?channel=crow2&client=firefox-b-d&q=europe+modernity+and+eurocentrism+enrique+dussel> पर उपलब्ध.

<sup>5</sup> इसका एक प्रमाण 2011 में सामने आया जब क्लॉड अलवारिस (2011) ने 'अ क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिक सोशल-साइंस ऐंड द क्वेश्चन ऑफ़ आल्टरनेटिव्ज़' शीर्षक से (इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 46, अंक 22 : 72-81) में भारतीय समाज-विज्ञान पर युरोकेंद्रियता के गहरे प्रभाव की शिनाख्त करते हुए एक विचारोत्तेजक लेख लिखा. इस लेख पर कुल चार विद्वानों (के. रामकृष्ण राव, जॉर्ज थॉमस, अनिरुद्ध देशपांडे और जॉर्ज वर्गीज) ने ही अनुक्रिया की. अलवारिस ने इनका जवाब 'स्टीप्ड इन युरोसेंट्रिज्म' लिख कर (इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 46, अंक 42 : 77-79) में दिया. इस बहस को पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज-वैज्ञानिकों को युरोकेंद्रियता से छुटकारा पाने में मोटे तौर पर कोई दिलचस्पी नहीं है.

नहीं दी। इस केंद्रीयता के कारण दुनिया भर में लोगों की जिंदगी आमूलचूल ढंग से बदल गयी है, इसने समाजों को उनकी जगह से खिसका कर नये स्थानों पर पहुँचा दिया है, और उनकी ऐतिहासिक दिशा इस हद तक परिवर्तित कर दी है कि युरोकेंद्रीयता के हवाले के बिना इतिहास की चर्चा करना भी उनके लिए निरर्थक हो गया है। 'सांस्कृतिक संकरताओं' की बहुलता में शायद ही कभी कोई कमी रही हो, लेकिन युरोकेंद्रीयता के किरदार का यह एक दिलचस्प और आकर्षक पहलू है कि जब से उसकी वैश्विक महत्वाकांक्षाएँ भौगोलिक सीमांतों के नजदीक पहुँचीं (इन सीमाओं को शायद ही कभी छुआ जा सके) हैं, तभी से वह अधिकतर संकरताओं की घटक बनती चली गई है। यह बात किसी भी अन्य केंद्रीयता के बारे में नहीं कही जा सकती, क्योंकि वे क्षेत्रीय रूप से सीमित और ऐतिहासिक रूप से अस्थिर रही हैं। ... ..

... .. युरोकेंद्रीयता की भूमंडलीय-व्यापित युरो-अमेरिकन मूल्यों में निहित किसी विशेष खूबी का नतीजा नहीं है, बल्कि इसका कारण तो यह है कि (वाणिज्य सरीखे) मौजूदा कार्य-व्यापारों के लिए संकेतक की भूमिका निभाने वाली विभिन्न प्रकार की गतिविधियों पर इन मूल्यों ने अपनी छाप अंकित कर दी है। जो समाज युरो-अमेरिकन नहीं हैं, उनके कुछ समूहों के लिए ये मूल्य या तो स्वागतयोग्य साबित हुए हैं, या अगर वहाँ इन मूल्यों का प्रतिरोध हुआ है तो उन्हें उनके ऊपर हथियारों की ताकत के दम पर थोप दिया गया है। दूसरे लफ़्ज़ों में, युरोकेंद्रीयता का भूमंडलीकरण और सार्वभौमीकरण उस गतिशीलता के बिना कल्पित ही नहीं किया जा सकता था जो उसे पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और सांस्कृतिक प्रभुत्व के ज़रिये हासिल हुआ है।<sup>6</sup>

डर्लिक के मुताबिक युरोकेंद्रीयता की सार्वभौमिकता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि दुनिया के पैमाने पर उसके विकीर्णन में गैरयुरो-अमेरिकन पहलक़दमी ने प्रमुख भूमिका निभाई है। और तो और, युरोकेंद्रीयता के समकालीन आलोचक उसके हाथों सताये गए किसी टोले के सदस्य न हो कर उसके दायरे में काम करते हुए सबलीकृत होने वाले तबक़े से आते हैं। यह कह कर डर्लिक दरअसल युरोपियन रिनैसाँज़ और युरोपियन एनलाइटनमेंट की ज्ञानमीमांसा के ज़रिये अपनी वाणी और बौद्धिकता हासिल करने वाले बुद्धिजीवी वर्ग की तरफ़ इशारा करते हैं।

पिछले तीस साल में उभरा 'डिकोलोनियलिटी' का विचार मुझे 'युरोसेंट्रिज़म' का आद्योपांत प्रतिकार प्रतीत होता है। आद्योपांत इस रूप में कि वह युरोकेंद्रीयता की वे आलोचनाएँ भी सतर्कतापूर्वक ख़ारिज कर देता है जिन्हें पश्चिम द्वारा 'अधिकृत' रूप से हमें थमाया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रत्यय के प्रवर्तक विद्वानों में से कई पश्चिमी और पश्चिमोन्मुख अकादमीय संस्थानों में प्रशिक्षित हुए हैं। लेकिन, मुझे लगता है कि वे डर्लिक द्वारा परिभाषित उन बौद्धिकों के खाने में नहीं रखे जा सकते जो अनिवार्यतः युरोकेंद्रीयता की दहलीज़ पर माथा टेकने के बाद उसकी आलोचना शुरू करते हैं। भारत में अस्सी के दशक के दौरान पश्चिमी ज्ञानमीमांसा को आलोचनात्मक कसौटियों पर कसने की शुरुआत ऐसे ही एक विद्वान आशिस नंदी ने की थी—

आज 'पश्चिमीकरण' तो एक अपमानजनक शब्द बन गया है, लेकिन मंच पर संस्कृति-संक्रमण के कहीं नफ़ीस और अधिक परिष्कृत माध्यम आ गए हैं। इनसे न केवल उपनिवेशवाद के प्रति अनुरूपता के प्रारूप पैदा होते हैं, बल्कि असहमति के 'अधिकारिक मॉडल' भी निकलते हैं। आज आधुनिक विश्व द्वारा सुनिश्चित और प्रोत्साहित शैली में उपनिवेशवाद-विरोधी होना सम्भव है। ऐसे उपनिवेशवाद-विरोध को 'समुचित', 'स्वस्थचित' और 'तर्कपरक' करार दिया जाता है। विरोध में खड़ी होने के बावजूद यह असहमति नियंत्रित और पूर्वानुमानित होती है। इसी तरह आज कल एक गैर-पश्चिम भी विकल्प के रूप में उपस्थित है जो दरअसल पश्चिम की ही गढ़त है। ... शत्रुता निभाते हुए भी ये विकल्प विजेताओं के लिए श्रद्धांजलि जैसे लगते हैं। ... पश्चिम ने न केवल आधुनिक उपनिवेशवाद पैदा किया है, वह उपनिवेशवाद की सभी व्याख्याओं में भी व्याप्त है। यहाँ तक कि व्याख्याओं की व्याख्याओं पर भी उसकी छाप है।<sup>7</sup>

नंदी 'डिकोलोनियलिटी' के उदय से पहले के विमर्शकार हैं। दरअसल, 'डिकोलोनियलिटी' नंदी से परे जाते हुए अपनी संभावना उपनिवेशित रह चुके देशों और समाजों की भाषाओं में तलाशती है।<sup>8</sup>

<sup>6</sup> देखें, आरिफ़ डर्लिक (1999) की गहन अंतर्दृष्टियों से सम्पन्न रचना, 'इज़ देयर हिस्ट्री ऑफ़्टर युरोसेंट्रिज़म? : क्लोबलिज़म, पोस्टकोलोनियलिज़म, ऐंड द डिसएवाउवल ऑफ़ हिस्ट्री', *कल्चरल क्रिटिक*, अंक 42 : 1-34.

<sup>7</sup> देखें, आशिस नंदी (1986/2019), *जिगरी दुश्मन : उपनिवेशवाद के साये में आत्म-क्षय और आत्मोद्धार*, अनु. अभय कुमार दुबे, सामयिक विमर्श ग्रंथमाला, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली : 5 ('प्राक्कथन').

<sup>8</sup> यह एक विडम्बना ही है कि फ़्रांज़ फ़ानो से प्रभावित होने के बावजूद आशिस नंदी ने उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा की संरचनाओं से अपरिचित रहना ही पसंद किया, जबकि फ़ानो के उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श में भाषा केंद्रीय प्रश्नों में से एक है। इससे उपजे अधूरेपन का मुखर सबूत नंदी के विमर्श में देखा जा सकता है।

जहाँ तक रामविलास शर्मा का सवाल है, उनमें नंदी द्वारा चिह्नित 'नियंत्रित और पूर्वानुमानित असहमति' के चक्कर में फँसने से इंकार करने का प्रबल रुझान है। लेकिन गहरी पड़ताल करने पर इस सिलसिले में उनकी सफलता कभी चमकदार लगती है, और कभी आंशिक। इस लेख में आगे चल कर हम देखेंगे कि किस तरह वे 'सभ्य बनाम बरबर' के द्विभाजन को स्वीकार कर लेते हैं जो युरोकेंद्रीयता के कुछेक बुनियादी आधारों में से एक है। वे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्षरत हैं, लेकिन रिनैसाँस और इनलाइटेनमेंट द्वारा प्रवर्तित ज्ञानमीमांसा को उपनिवेशवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के लिए विधेयक भूमिका में न देख कर मानवता के इतिहास की अभूतपूर्व क्रांतियों की तरह ग्रहण करते हैं। इस तरह उनकी ऊर्जा का अधिकतर हिस्सा मार्क्सवाद का बचाव और आधुनिकता के विचार को बुलंद करने में खप जाता है। लेकिन, इसी मुकाम पर उनके वांगमय में एक दिलचस्प अंतर्विरोध उभरता है जिसके कारण वे महज़ एक मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी नहीं रह जाते। दरअसल, मार्क्सवाद और आधुनिकता की सेवा करने के लिए उन्होंने भारतीय परम्परा और विचार का जिस तरह संधान किया है, उससे ज्ञान-रचना की कुछ ऐसी संभावनाएँ उजागर होती हैं जिन्हें 'डिकोलोनियलिटी' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

'डिकोलोनियलिटी' आह्वान करती है कि जिस तरह 'कोलोनियलिटी' और उसकी आधारभूत युरोकेंद्रीय ज्ञानमीमांसा ग्रीक और लैटिन के बाद युरोप की छह भाषाओं (स्पेनी, पुर्तगाली, इतालवी, फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेज़ी) में रची गई, उसी तरह इसका प्रतिकार और विकल्प भी पूर्व-उपनिवेशित देशों की भाषाओं में और उनकी प्राक्-औपनिवेशिक पारम्परिक ज्ञान के ज़रिए रचा जाएगा। इस लिहाज़ से देखा जाए तो अपनी बौद्धिक परियोजना मुकम्मल तौर पर एक भारतीय भाषा हिंदी में चलाने के मामले में रामविलास शर्मा की उपलब्धि सौ फ़ीसदी है। ध्यान रहे, यह मामला केवल एक भाषा में लिखने-भर का ही नहीं है। 'हिंदी में भी लिखने वाले' विमर्शकार बहुतेरे हैं। लेकिन, मुख्य तौर से उनका साबिका अंग्रेज़ी से ही रहता है। अपने हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी 'प्रेम' के बावजूद उनका जीवन औपनिवेशिकता और भाषा के संबंध से कतराने और 'अंग्रेज़ी ज़रूरी है' की रट लगाने में ही बीतता है। इनमें से कुछ तो यह भी मानते हैं कि अंग्रेज़ी ने भारत का रिनैसाँस किया, जैसे कि अंग्रेज़ों के आने से पहले का समय भारत के लिए अंधकार का काल रहा हो। और, कुछ के लिए अंग्रेज़ी के बिना विचारों की दुनिया कल्पनातीत है। 'हिंदी में भी लिखने वालों' की इस प्रवृत्ति के विपरीत रामविलास शर्मा अंग्रेज़ी में निष्णात होने के बावजूद पूरी तरह से हिंदी की संस्कृति में ही रमे हुए हैं। दूसरे, 'कोलोनियलिटी' के परकोटे पर किये गए धावे में जो हथियार उनके द्वारा योजनाबद्ध तरीके से इस्तेमाल किया गया है, वह भाषा-विमर्श का ही है। पश्चिम (या जर्मन और ब्रिटिश प्राच्यवाद) द्वारा सूत्रीकृत भाषाई विचारधारा से मुठभेड़ उनके प्रमुख लक्ष्यों में से एक है। भाषा और भाषा-क्षेत्र की यह सर्वोपरि प्राथमिकता भी उन्हें 'डिकोलोनियलिटी' का वाहक बनने के नज़दीक ले जा सकती है।

यहाँ स्पष्ट करना ज़रूरी है कि निस्संदेह भाषा को दी गई प्राथमिकता एक 'डिकोलोनियलिटी' का आवश्यक गुण है, लेकिन यही सब कुछ नहीं है। डर्लिक के हवाले से ऊपर दिखाया जा चुका है कि युरोकेंद्रीयता एक ऐसी सर्वव्यापी शै है कि उसकी आलोचना करते-करते हम अनजाने में (अधिकांशतः जानते हुए) उससे संबंधित बुनियादी प्रस्थापनाओं को स्वीकार करने लगते हैं। युरोकेंद्रीयता के समकालीन आलोचकों में यह प्रवृत्ति खासी पाई जाती है। मसलन, युरोप को 'प्रोवेशियल' बनाने का दीपेश चक्रवर्ती का आग्रह ठीक वैसा ही है जिसे डर्लिक ने रेखांकित किया है। उन्हें 'मॉडर्निटी' चाहिए ही चाहिए, क्योंकि बिना उसके उन्हें नहीं मालूम है कि मानवाधिकारों की माँग कैसे की जाएगी, समतामूलकता की पैरोकारी कैसे होगी, सेकुलर राज्य कैसे बनेगा, और उदारतावाद की स्थापना कैसे होगी। युरोपीय ज्ञानमीमांसा की प्रमुख वैचारिक संरचनाओं को पूरी तरह से आत्मसात करके वे ज़्यादा से ज़्यादा युरोकेंद्रीयता के हुज़ूर में एक

---

भाषाई विचारधारा ही नहीं, भाषा के प्रश्न की ही सम्पूर्ण उपेक्षा के कारण वे औपनिवेशिक विचारधारा के आद्योपांत नैरंतर्य को रेखांकित नहीं कर पाते। यहाँ स्पष्ट करना ज़रूरी है कि भाषाई विचारधारा में दिलचस्पी न होने का मतलब यह नहीं है कि उपनिवेशवाद की आलोचना तैयार करने में नंदी का विमर्श हमारी कोई खास मदद नहीं करता। एक तरह से नंदी पहले चिंतक हैं जिन्होंने अस्सी के दशक से पहले भारत में उपनिवेशवाद की प्रचलित आलोचनाओं को कठघरे में खड़ा किया।

शिकायतनामा-भर पेश कर पाते हैं। उन्हें अफ़सोस केवल यह लगता है कि पश्चिम के बौद्धिक प्रभाव ने उन जैसे समाज-वैज्ञानिकों को तेरहवीं सदी के तर्कशास्त्री गंगेश और पाँचवीं-छठी सदी के भर्तृहरि जैसी भारतीय विद्वत्ता का अध्ययन नहीं करने दिया। दीपेश चक्रवर्ती जिस प्रारूप की नुमाइंदगी करते हैं उसकी एक मार्क्सवादी क्रिस्म भी है। इसके अभ्यासकर्ता युरोकेंद्रीयता की आलोचना करने करते ही इसलिए हैं कि किसी न किसी तरह मार्क्सवाद को युरोकेंद्रित विचार की श्रेणी से बाहर दिखाया जाता रहे। इसके लिए वे मार्क्स के कुछ युरोकेंद्रित कथनों पर छींटाकशी करके स्वयं को निष्पक्ष दिखाने की युक्ति भी अपनाते हैं, अन्यथा उनका विमर्श मोटे तौर पर मार्क्सवादी मुद्रा में ही काम करता दिखता है। इस प्रवृत्ति की भारतीय मिसालें भी हैं, पर इसकी एक प्रचुर अंतर्राष्ट्रीय मिसाल समीर अमीन की युरोकेंद्रीयता विरोधी आलोचना के रूप में देखी जा सकती है।

एक अन्य बेहद प्रचलित प्रारूप वह है जिसे इमानुएल वालरस्टीन ने 'एंटी-युरोसेंट्रिक युरोसेंट्रिज़्म' की संज्ञा दी है। वालरस्टीन ने इसके खिलाफ़ जो चेतावनी दी है, वह रामविलास शर्मा के उद्गम की समीक्षा करने में मदद दे सकती है। इस प्रारूप के तहत कहा जाता है कि पश्चिम ने पूँजीवाद का विकास करके कोई ख़ास तीर नहीं मारा, क्योंकि हम (चीनी, जापानी, भारतीय या अरब-मुस्लिम सभ्यताएँ) पहले से ही इसी रास्ते पर चल रहे थे। इसी बात को इस तरह भी कहा जाता है कि जो उनके पास था, वह तो हमारे पास उनसे भी पहले था। अगर उपनिवेशवाद ने हमारे ऊपर ख़ुद को थोप कर हमारी विकास-यात्रा बीच में भंग न की होती तो हमारे पास भी पूर्ण विकसित आधुनिक पूँजीवाद या हमारी अपनी 'आधुनिकता' होती। यहाँ बहस पूँजीवाद के उद्गम की विशिष्टता के इर्दगिर्द होने लगती है। युरोकेंद्रीयता की आलोचना करने वाले समीर अमीन जैसे मार्क्सवादी विद्वान 'मोड ऑफ़ प्रोडक्शन' के आईने में देखते हुए पूँजीवाद को ख़ास तौर पर एक युरोपीय कृति मानते हैं। युरोकेंद्रीयता को आड़े हाथों लेने वाला विद्वानों का एक दूसरा हिस्सा मार्क्सवाद के प्रति ठंडा-गरम रुख रखता है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि के तौर पर आंद्रे गुंदर फ्रेंक के विमर्श को देखा जा सकता है जो साबित करने की कोशिश करते हैं कि पूँजीवाद का उद्गम तो अफ्रीकी-युरेशियायी क्षेत्र में है। यह 'एंटी-युरोसेंट्रिक युरोसेंट्रिज़्म' भिन्न-भिन्न रास्ते अपनाता हुआ इस नतीजे पर पहुँचता है कि न केवल मानवता का भविष्य पूँजीवाद की मंज़िल से बँधा हुआ है, वरन उसका अतीत भी किसी न किसी प्रकार पूँजीवाद की व्यापारिक क्रिस्म के रूप में संसाधित हो रहा था। गैर-युरोपीय मार्क्सवादी तो इस तरह की दावेदारियों के तहत यह कहने की हद तक चले जाते हैं कि अगर साम्राज्यवाद का हस्तक्षेप न होता तो उनके नेतृत्व में उनका समाज तो ऐतिहासिक भौतिकवाद के मार्गनिर्देशन में समाजवाद की मंज़िल की तरफ़ कभी का चल दिया होता। वालरस्टीन ने इस प्रचलित दलील की सीमाओं को उघाड़ते हुए कहा है कि यह तो युरोप के रास्ते को ही श्रेयस्कर मान लेना हुआ। क्या यह युरोपीय सफलता के प्रारूप की सार्वभौमिकता पर मुहर लगा देना नहीं हुआ? क्या इससे युरोप का नायकत्व पुष्ट नहीं होता? ज़्यादा से ज़्यादा यह नायकत्व इस लिहाज़ से एक ऐसी 'दुष्ट प्रकृति' का साबित होता है जिसने ख़ुद का विकास कर लिया, पर दूसरों का रोक दिया।<sup>9</sup>

इस प्रवृत्ति के साथ एक उपप्रवृत्ति भी जुड़ी है। इसके तहत यह विस्तार से बताया जाता है कि मध्य युग में पश्चिमी युरोप की कोई ख़ास औकात नहीं थी। उसकी ऐतिहासिक भूमिका और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भारत, अरब और चीन के मुकाबले के मुकाबले फीकी थीं। यानी युरोप की इस श्रेष्ठता में हमारा भी योगदान है। ऐतिहासिक तथ्य के तौर पर यह एक सही दावा है, और युरोप की सार्वभौम-सर्वकालीन श्रेष्ठता का सफलतापूर्वक खंडन कर देता है।

<sup>9</sup> देखें, इमानुएल वालरस्टीन (1997), 'युरोसेंट्रिज़्म ऐंड इट्स अवतारस : द डिलेमाज़ ऑफ़ सोशल साइंस', *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*, खंड 46, अंक 1 : 21-39; समीर अमीन (2009) का दृष्टिकोण समेकित रूप से उनकी रचना *युरोसेंट्रिज़्म : मॉडर्निटी, रिलीज़न, ऐंड डेमांड्स— अ क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंट्रिज़्म ऐंड कल्चरलिज़्म*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयार्क में व्यक्त हुआ है। यह रचना पहले फ्रेंच में 1988 में प्रकाशित हुई थी। बाद में उसे जेम्स मेम्ब्रेज़ ने अंग्रेज़ी में अनूदित किया। आंद्रे गुंदर फ्रेंक (1998) के विमर्श के लिए देखें, *रिओरिएंट, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले*। युरोकेंद्रीयता और पूँजीवाद के उद्गम से जुड़ी बहस की एक रोचक चर्चा के लिए देखें, क्रिस्टिन प्लाइज़ (2013), 'युरोसेंट्रिज़्म ऐंड ओरिजिंस ऑफ़ कैपिटलिज़्म', *रिव्यू (फ़र्नांद ब्रांडेल सेंटर)*, खंड 36, अंक 1 : 41-81.



लेकिन, युरोप को कमतर दिखाने वाला यह तर्क यह कहने में नाकाम है कि दुनिया भर से ज्ञान के टुकड़ों को जमा करके पचा लेने वाले युरोप ने 'मॉडर्निटी' नाम की जो शै बनाई है, वह किस तरह एक विशिष्ट तरह का युरोपियन उत्पाद है— रसायनशास्त्र की उस प्रक्रिया की तरह जिसमें कई विभिन्न स्रोतों से लिए गए विभिन्न तत्त्वों और घटकों को एक रासायनिक क्रिया द्वारा एक ऐसे अंतिम उत्पाद में बदल दिया जाता है जिसका उन तत्त्वों-घटकों से कोई ताल्लुक नहीं रह जाता। इस तरह से इस प्रवृत्ति के ये दोनों रूप युरोपीय श्रेष्ठता को बुनियादी रूप से प्रश्नांकित करने में नाकाम रहते हैं।<sup>10</sup> आगे चल कर हम देखेंगे कि रामविलास शर्मा के विमर्श में इन प्रवृत्तियों का संकेत किस सीमा तक मौजूद हैं।

### रामविलास शर्मा : एक अनभिप्रेत 'डिकोलोनियलिटी'

रामविलास शर्मा को 'डिकोलोनियलिटी' के विमर्श की जानकारी नहीं हो सकती थी। जब विश्व के बौद्धिक पटल पर 'डिकोलोनियलिटी' का सूत्रपात हुआ, उस समय वे सक्रिय अवस्था में थे, लेकिन वह उनके जीवन का आखिरी दौर था। उनके जीवित रहते भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच 'डिकोलोनियलिटी' के क्रम पड़े ही नहीं थे। लोग ज्यादा से ज्यादा 'डिकोलोनाइजेशन' या 'विउपनिवेशीकरण' की श्रेणी का इस्तेमाल करते थे।

जाहिर है कि यह चर्चा करते समय हम डिकोलोनियलिटी के प्रोजेक्ट और रामविलास शर्मा के बीच समय के अंतराल को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। बोवेंचुरा सांतोस और उनके साथियों ने जिस समय 'डिकोलोनियल' चिंतन शुरू ही किया था, उस समय रामविलास शर्मा का मार्क्सवाद ऋग्वैदिक अध्ययन की जमीन पर कई क्रम चल चुका था। वे भारतीय मनीषा में गहरे उतर चुके थे। यहाँ इस अंतर को भी रेखांकित करना ज़रूरी है कि बोवेंचुरा और उनके साथ विद्वानों की मंडली मार्क्सवाद का युरोकेंद्रीय चिंतन में शुमार करने से नहीं हिचकती, और रामविलास शर्मा मार्क्सवाद से अपनी निष्ठा जताने में कभी नहीं चूकते।

रामविलास शर्मा के जीवन और कृतित्व से वाकिफ़ लोग जानते हैं कि वे केवल एक मार्क्सवादी विद्वान ही नहीं थे। वे भारत में मार्क्सवादी सांस्कृतिक परियोजना के प्रमुख सिद्धांतकार और संगठक की हैसियत भी रखते थे। दरअसल, पचास के दशक में उन्होंने लम्बे अरसे तक नेतृत्वकारी संगठनकर्ता के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक सिपहसालार की भूमिका निभाई थी। प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री के रूप में उन्हें तत्कालीन शीर्ष कम्युनिस्ट नेतृत्व (पी.सी. जोशी, बी.टी. रणदिवे और ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद) के साथ संस्कृति की राजनीति से संबंधित विवादों-विषयों पर अन्योन्यक्रिया करने का मौक़ा मिला था।<sup>11</sup> अर्थात्, रामविलास शर्मा ने भारतीय मार्क्सवाद के संस्थागत दायरे के बाहर ही नहीं, भीतर भी काम किया था। इस लिहाज़ से उनके बौद्धिक हस्तक्षेप और भी मानीखेज़ सवालों को जन्म देते हैं। मसलन, अगर ऋग्वेद को प्राचीन भारतीय मेधा के सर्वोच्च रूपकों में से एक के तौर पर ग्रहण किया जाए, तो वे मार्क्सवाद और भारत के पारम्परिक ज्ञान के बीच में कहाँ खड़े थे? क्या मार्क्सवाद की वज़ह से उन्हें यह ज्ञानराशि कुछ भिन्न तरह से समझ में आ रही थी, या इस ज्ञान के कारण उन्हें मार्क्सवाद को अलग ढंग से ग्रहण करने का मौक़ा मिला

<sup>10</sup> इस अवलोकन का श्रेय मैं पार्थ चटर्जी को दूँगा। आदित्य निगम की पुस्तक पर हुए वेब-सेमिनार में उन्होंने यह विश्लेषण किया था।

<sup>11</sup> प्रगतिशील लेखक संघ और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के संबंधों और पचास के दशक में बी.टी. रणदिवे, पी.सी. जोशी और ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद के साथ रामविलास शर्मा की अन्योन्यक्रिया के प्रथम पुरुष में अत्यंत दिलचस्प और मानीखेज़ वर्णन के लिए देखें, 'बंगाल ने जातीय समस्या सुलझाई है', (अजय तिवारी के साथ साक्षात्कार के आधार पर), *वसुधा-51*, (2001), अतिथि संपादक : विश्वनाथ त्रिपाठी और अरुण प्रकाश : 270-276. हिंदी-उर्दू को मूलतः एक ही जाति की भाषा मानने वाले रामविलास शर्मा के सांस्कृतिक हस्तक्षेप की विशेषता यह थी कि उनके नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक संगठन प्रगतिशील लेखक संघ में दोनों भाषाओं के लेखक एक मंच से बोलने लगे थे। 1952 में कलकत्ता के सम्मेलन के बाद बने पार्टी से संबंधित प्रमुख लेखकों के आयोग के सदस्य रामविलास शर्मा भी थे। इस आयोग को जिम्मेदारी मिली थी कि वह भाषा, साहित्य और समाज की समस्याओं पर एक दस्तावेज़ तैयार करेगा जिसे पार्टी में बहस के लिए रखा जाएगा। स्वयं रामविलास शर्मा के शब्दों में, 'मार्च, 1953 के बाद उस आयोग की एक भी बैठक नहीं हुई। मेरा कहना यह है कि कम्युनिस्ट लेखकों के सम्मेलन में जो सुझाव रखे गए, पार्टी-आयोग गठित करने के बारे में विभिन्न प्रांतों के स्तर पर, और जिन प्रस्तावों को उस समय तक अमल में लाया गया, बाद में वे प्रस्ताव कुछ समय तक अमल में लाए गए, मार्च, 1953 के बाद वे प्रस्ताव अमल में क्यों नहीं लाए गए।' इस वक्तव्य के लिए देखें, नलिनी उपाध्याय से बातचीत, 'आलोचना और प्रगतिशील साहित्य', *मेरे साक्षात्कार* (1994), पूर्वोद्धृत : 32.

था ? क्या मार्क्सवाद की समझ और भारतीय ज्ञान की अन्योन्याश्रित संरचना का प्रोजेक्ट उन्हें किसी खास दिशा में ले जा रहा था ? कुछ सवाल और भी हैं। अगर वास्तव में रामविलास शर्मा की बौद्धिक परियोजना की मुख्य भूमि यही थी, तो क्या वे इसके लिए प्राचीन भारतीय ज्ञान को एक औजार की तरह इस्तेमाल करना चाहते थे ? वे कौन-कौन से औपनिवेशिक विमर्श थे, जिनके साथ रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद का अपने ढंग से इस्तेमाल करके संघर्ष किया ? इसी से जुड़ा हुआ एक विवादास्पद लगने वाला प्रश्न यह है कि अपनी मुखर युरोकेंद्रीयता के कारण मार्क्स की रचनाओं और उन पर आधारित मार्क्सवादी विमर्श को किस हद तक 'उपनिवेशकों के ज्ञान' की श्रेणी में डाला जा सकता है ?

यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि अंग्रेजी की दुनिया तो रामविलास शर्मा की विद्वत्ता का नोटिस ही नहीं लेती, हिंदी की दुनिया में सक्रिय मार्क्सवादियों के बीच भी रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद को लेकर कई तरह के मतभेद हैं। उन्हें 'मार्क्सवादी ऋषि' भी माना जाता है,<sup>12</sup> और उनकी बौद्धिक परियोजना को मार्क्सवाद से एक विचलन की तरह भी देखा जाता है (जैसे, कहा जाता है कि 'उनके 'भारतीय मार्क्सवाद' में पचानवे प्रतिशत भारतीय है और बमुश्किल तमाम पाँच प्रतिशत ही मार्क्सवाद है')।<sup>13</sup> रामविलास शर्मा के वांगमय को लेकर मार्क्सवादियों के बीच दुविधा की स्थिति यह है कि एक तरफ तो पार्टी-दायरों में उन्हें बी.टी. रणदिवे के ऐसे सांस्कृतिक सिपहसालार के तौर पर देखा जाता है जो संगठन में अपने विरोधियों पर बुलडोजर चलाते थे,<sup>14</sup> और दूसरी तरफ उनके मार्क्सवाद पर 'ब्राह्मणवादी' और 'परम्परानिष्ठ' होने के आरोप भी लगाये जाते हैं।<sup>15</sup>

जाहिर है कि जिस बौद्धिक उलझन से हम जूझने जा रहे हैं, वह बहुआयामी और जटिल है। इसका उत्तर पाने के लिए हमें गहरे पैठना होगा। विचारों के इतिहास में इस गोताखोरी की शुरुआत हम तीन जिज्ञासाओं से कर सकते हैं। पहला, मार्क्सवाद को आम तौर पर भारतीय समाज में किस प्रकार और किस लिए ग्रहण किया गया है; दूसरा, अपनी युरोग्रस्तता के कारण अपने प्रशंसकों और अनुयायियों के बीच भी आलोचना के शिकार मार्क्स के 'डिकोलोनियल' संस्करण का तात्पर्य क्या हो सकता है; और, रामविलास शर्मा और 'ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना' के भारतीय अध्याय के बीच क्या संबंध है ? नीचे इन जिज्ञासाओं पर सिलसिलेवार चर्चा की गई है। यहाँ पाठकों से कुछ धैर्य की अपेक्षा है, क्योंकि बीच में उन्हें लग सकता है कि इन चर्चाओं में रामविलास शर्मा सीधे-सीधे उपस्थित क्यों नहीं हैं, या उनका आगमन इनमें देर से क्यों होता है।

### मार्क्सवाद, परम्परा, उपनिवेशवाद और युरोकेंद्रीयता

आदित्य निगम ने अपनी ताज़ातरीन कृति *डिकोलोनोइजिंग थियरी : थिंकिंग अक्रॉस ट्रेडिंशंस* में पहली जिज्ञासा के बारे में एक विचारणीय राय दी है। उन्हीं के शब्दों में :

औपनिवेशिक जीवन के 'तंग दायरे' में केवल राजनीति ही वह मुकाम मुहैया कराती है जहाँ से उपनिवेशकों के ज्ञान को चुनौती देने का उपक्रम किया जा सकता है। जहाँ तक दर्शन का सवाल है, वह तो समय की धुंध में लौट जाता है। भारतीय संदर्भ में देखें तो वह एक तरफ तो बौद्ध, वैदिक या वेदांत दर्शन को निकाल कर लाने का उद्यम बन जाता है, और दूसरी तरफ जहाँ वह पराजय स्वीकार कर चुका है, वहाँ वह उपनिवेशकों के दर्शन के विभिन्न रूपों (प्रत्यक्षवाद, उपयोगितावाद आदि) को ग्रहण

<sup>12</sup> एक ही हस्ती के प्रति श्रद्धावनत समीक्षाओं और कठोर आलोचनात्मक टिप्पणियों के सहअस्तित्व को अगर देखना हो तो प्रदीप सक्सेना के संपादन में दिसम्बर, 2012 में निकला *उद्भावना* का रामविलास शर्मा पर केंद्रित महाविशेषांक (सात सौ पृष्ठ से अधिक) देखना चाहिए।

<sup>13</sup> देखें, कात्यायनी (2012), 'रामविलास शर्मा के कई नवजागरण और मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि', *उद्भावना*, उपरोक्त।

<sup>14</sup> विख्यात समाजशास्त्री पून चंद्र जोशी यह सोचते थे कि रामविलास शर्मा कम्युनिस्ट पार्टी के नेता बी.टी. रणदिवे की लाइन पर चलने वाले हैं, लेकिन जब उन्होंने उनकी रचना *गाँधी, लोहिया, आम्बेडकर और भारतीय इतिहास की समस्याएँ* का अध्ययन किया तो उनकी यह धारणा बदल गई। उन्होंने कहा, 'आई केम टू स्कॉफ, बट आई रिमेंड टू प्रे'। (आया था हँसी उड़ाने, पर ठहर गया वंदना करने.) यह आठ सौ पृष्ठों की पुस्तक रामविलास शर्मा ने तब लिखी थी जब वे अट्ठासी साल के थे। देखें, पून चंद्र जोशी (2001), 'गाँधी, रामविलास शर्मा और हम', *वसुधा-51*, पूर्वोद्धृत : 19-38।

<sup>15</sup> संजीव कुमार (2012), 'हिंदी का मार्क्सवाद : जात्याभिमान की परचम के तले', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *हिंदी की आधुनिकता-एक पुनर्विचार*, दूसरा खण्ड, आईआईएस-वाणी, नयी दिल्ली।

लेता है। संभवतः यहाँ केवल मार्क्सवाद ही एक अपवाद की तरह सामने आता है। कारण यह कि भारतीय कर्ता (यहाँ मेरा मतलब आम तौर पर औपनिवेशिक कर्ता से है) के लिए मार्क्सवाद बाक्रायदा एक दर्शन न हो कर राजनीति और इतिहास पर एक विमर्श बन गया है, एक ऐसा विमर्श जो एक साथ उपनिवेशवाद की और उसकी अपनी परम्परा की आलोचना करने की भाषा मुहैया कराता है।<sup>16</sup>

आदित्य निगम भारत के उन बिरले विद्वानों में से एक हैं जिनके भीतर डिकोलोनियलिटी प्रोजेक्ट के साथ सकारात्मक अन्वोन्यक्रिया करने की इच्छा दिखाई पड़ती है। इसलिए उनके इस अवलोकन की समीक्षा आवश्यक है। पहली नज़र में यह उद्धरण संकेत करता है कि वे मार्क्सवाद को न केवल औपनिवेशिक दर्शन और विमर्श से अलग करके पेश करना चाहते हैं, बल्कि उसे एक ऐसी विचार-श्रेणी के रूप में रखना चाहता हैं जो उपनिवेशवाद से ग्रस्त भारतीयों को दोनों तरह की (पश्चिम के और परम्परा के प्रभाव से) वैचारिक स्वायत्तता हासिल करने में मददगार है। उनका यह प्रयास कितना जायज़ है? यहाँ हिंदी-क्षेत्र के मार्क्सवादियों द्वारा की जाने वाली 'परम्परा की आलोचना' के कुछ उदाहरणों से यह समझने की कोशिश की जा सकती कि मार्क्सवाद ने भारत को परम्परा की आलोचना का कैसा मुहावरा प्रदान किया है। ध्यान रहे कि जिन लोगों का इस उद्धरण में जिक्र किया जा रहा है वे समाज-विज्ञान की सतर्क भाषा का इस्तेमाल नहीं करते। वे साहित्यालोचना की दुनिया से ताल्लुक करते हैं। इस उदाहरण में एक झलक बांग्ला-क्षेत्र की भी है—

विश्वनाथ त्रिपाठी (जो वरिष्ठ मार्क्सवादी साहित्यालोचक हैं) ने लिखा है कि 'प्रगतिशील आलोचना प्रारम्भ में अतीत के विरुद्ध एक प्रकार की जिहादी भावना से निर्णय देती थी। अतीत प्रतिक्रियावादी है, वर्तमान विषय है, भविष्य उत्तरोत्तर बेहतर होता जाएगा; यही बात साहित्य के बारे में भी लागू की जाती थी। आदिकालीन काव्य, भक्तिकालीन काव्य, छायावादी काव्य— सबको साम्य विरोधी या वर्णाश्रमी ब्राह्मणवादी घोषित किया जाता था। अतीत में पहुँच कर आलोचना की दृष्टि द्वंद्व और अंतर्विरोध से रहित हो जाती थी।' अजय तिवारी ने दिखाया है कि 'शिवदानजी ने ... छायावाद को हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग से ज्यादा खतरनाक बताया था। मैथिलीशरण गुप्त की *भारत-भारती* को हिंदू फ़ासिस्टों के लिए बाइबिल बनने योग्य बताया था।' अजय तिवारी के अनुसार शिवदान सिंह चौहान संत साहित्य को वैराग्य में डूबा हुआ, रीति साहित्य को व्यभिचार में लिप्त मानते थे। वे भारतेंदु-युग के शैशव काल के बाद सारे साहित्य को फ़ासिस्ट करार देते थे। भाकपा के एक नेता '... भवानी सेन ने रवींद्र गुप्त नाम से लिखा था कि रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों का हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से कोई पार्थक्य नहीं है। ... राहुलजी ने वाल्मीकि को शुंग वंश का और कालिदास को गुप्त सम्राटों का चाटुकार घोषित किया। तुलसी तो ख़ैर ब्राह्मणवादी-प्रतिक्रियावादी थे ही।' अजय तिवारी के इस विवरण में एक और फ़िकरा जोड़ा जा सकता है जिसे शिवदानीय आलोचना के संदर्भ में सुनाया जाता है कि अगर चौहान साहब की चलती तो वे सोलहवीं सदी में तुलसीदास को ब्राह्मण सभा का अध्यक्ष और कबीरदास को सीपीआई (एम) का सेक्रेटरी बना कर दम लेते।<sup>17</sup>

ये उदाहरण भले ही पूरी बात न कह पा रहे हों, कम से कम एक संकेत तो करते ही हैं कि किस प्रकार मार्क्सवाद ने आम तौर पर अपने दायरे के बुद्धिजीवियों को परम्परा का आलोचना की बजाय उसके प्रति घृणा की हद तक जाने वाले एक निंदात्मक तिरस्कार से ही आवेशित किया। जो बुद्धिजीवी निंदा और घृणा से बच पाए, वे परम्परा के प्रति एक गहरे द्वैध में फँस गए। जिन महानुभावों का यहाँ जिक्र किया गया है, वे भले ही विश्वविद्यालयीय परम्परा से निकले 'समाज-वैज्ञानिक' न हों, पर मार्क्सवादी सांस्कृतिक आंदोलन के इतिहास के आदरणीय नाम हैं। आगे चल कर स्पष्ट हो जाएगा कि ये उदाहरण रामविलास शर्मा के संदर्भ से सीधे जुड़ते हैं, क्योंकि रामविलास शर्मा हिंदी के ही नहीं, भारतीय भाषाओं के संभवतः अकेले मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं जो परम्परा की नकारात्मक और विध्वंसकारी आलोचना करने के लिए

<sup>16</sup> आदित्य निगम (2020), *डिकोलोनाइजिंग थियरी : थिंकिंग अक्रॉस ट्रेडिंशंस*, ब्लूमसबरी, नयी दिल्ली : 90-91.

<sup>17</sup> विश्वनाथ त्रिपाठी की संक्षिप्त टिप्पणी, 'रामविलास शर्मा का साहित्य विपुल और विविध है', रविभूषण (सम्पा.) (2011), *प्रभात खबर*, दीपावली विशेषांक : 79-82; अजय तिवारी, 'रामविलास शर्मा : प्रगतिशीलता के विवाद', *वसुधा-51*, वही : 160-176. उद्धरणों का यह कोलाज मेरे लेख से, देखें, अभय कुमार दुबे (2013), 'हिंदी का ज्ञानकाण्ड : रामविलास शर्मा का 'अर्ली-मॉडर्न', परम्परा की आधुनिकता, और हिंदी वर्चस्व का लोकतंत्रीकरण', *हिंदी में हम : आधुनिकता के कारखाने में भाषा और विचार*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली : 149-208.

मार्क्सवाद का इस्तेमाल नहीं करते। इसके उलट वे मार्क्सवाद के जरिये वह करने की कोशिश करते हैं जो शायद आदित्य निगम द्वारा इस्तेमाल किये गए शब्द 'क्रिटीक' का असली मतलब होता है।

इसके बाद आदित्य निगम के इस दावे की जाँच की जा सकती है कि क्या मार्क्सवाद ने भारत को उपनिवेशवाद की आलोचना करने के लिए किसी तरह की भाषा प्रदान की? इस प्रश्न का उत्तर केवल भारतीय संदर्भ में नहीं दिया जा सकता। भारत के दायरे से निकल कर इसके लिए एक कहीं व्यापक वैश्विक संदर्भ का इस्तेमाल करना पड़ेगा। भारत तो यहाँ मार्क्स और मार्क्सवाद की विषयवस्तु के तौर पर सामने आएगा। कहना न होगा कि मार्क्स-एंगेल्स उन्नीसवीं सदी के उस दौर में अपना लेखन कर रहे थे जब उपनिवेशवाद भारत समेत गैर-यूरोपीय दुनिया में पूरी तरह से अपने पैर जमा कर अपना सितारा बुलंद कर चुका था। उससे लड़ने वाला राष्ट्रवाद कमसिनी के दौर से गुजरते हुए उदीयमान होने के संकेत दे रहा था। इस पृष्ठभूमि में मार्क्सवाद और उपनिवेशवाद के संबंधों का सवाल बेहद बुनियादी बन जाता है। इसे यँ भी रखा जा सकता है कि क्या मार्क्स और एंगेल्स की कृतियाँ हमें उपनिवेशवाद की आलोचना करने में सक्षम बना सकती हैं? यूरोकेंद्रीयता से मार्क्सवाद को बचाने के लिए लिखी गई अपनी रचना *युरोसेंट्रिज्म ऐंड द कम्युनिस्ट मूवमेंट* में रॉबर्ट बील ने विश्वसनीय ढंग से कई उदाहरण देते हुए दिखाया है कि मार्क्स और एंगेल्स ऐसे किसी उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन या संघर्ष को समर्थन देने से परहेज करते थे जिसमें उन्हें पश्चिमी यूरोप में क्रांति (प्रकारांतर से विश्व सर्वहारा क्रांति) की उनकी सैद्धांतिक परिकल्पना पुष्ट करने की संभावनाएँ नहीं दिखती थीं।<sup>18</sup> रॉबर्ट बील की यह रचना 2015 की है। उनसे बहुत पहले साठ के दशक में होरेस बी. डेविस ने राष्ट्रवाद की मार्क्सवादी थियरी का सूत्रीकरण करने की कोशिश में उपनिवेशवाद के प्रति मार्क्स और एंगेल्स के रवैये की जाँच करके यही निष्कर्ष निकाला था।<sup>19</sup> बेहिचक मार्क्सवादी होने के कारण बील और डेविस मार्क्स और उनके वाद के प्रति किसी तरह की दुर्भावना से पीड़ित नहीं हो सकते थे।

यहाँ समझने की बात यह है कि मार्क्स के सम्मुख जो राष्ट्रवाद था, वह डेविस के शब्दों में 'युवा' होने के साथ-साथ 'मोटे तौर पर प्रगतिशील' भी था। उसके भीतर वे विकृतियाँ नहीं आई थीं जिन्होंने आगे चल कर विश्व-मानवता को पीड़ित किया। लेकिन, अपने तत्कालीन साफ़ रिकॉर्ड और उपनिवेशवाद विरोधी मिजाज के बावजूद मार्क्सवाद के संस्थापकों के लिए यूरोपीय औपनिवेशिक महाप्रभुओं से संघर्ष करने वाली राष्ट्रवादी परियोजनाएँ कभी तो 'स्वाभाविक और प्रशंसनीय' हो जाती थीं जब उनका ब्रिटिश और फ्रांसीसी मजदूर वर्ग से ताल्लुक होता था), और कभी 'संकीर्ण और आलोच्य' (आम तौर से जब वे पश्चिमी यूरोप के उद्योगीकृत देशों के अलावा कहीं अभिव्यक्त होती थीं)। इस दुविधा के कारण वे उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद के पक्ष में मजबूती से नहीं खड़े हो पाए। इस मामले में मार्क्स और एंगेल्स का बचाव करने वाले विद्वानों ने उनके शास्त्र में 'डायलेक्टिस ऑफ़ कोलोनियलिज्म' का हवाला दिया है। लेकिन, ये बचावकर्ता इस मुश्किल का सामना करने के लिए मजबूर हैं कि यह 'डायलेक्टिस' अपने अंतिम विश्लेषण में यूरोप और उसके उपनिवेशवाद के पक्ष में ऐतिहासिक और तात्त्विक रूप से झुकी हुई है। दरअसल, भारत ही नहीं, दुनिया में कहीं भी यूरोपीय उपनिवेशवाद के बारे में मार्क्स-एंगेल्स की राय हमेशा एक द्वैध से ग्रस्त रहती थी।

अक्सर इन तथ्यों को 'क्रांति और मुक्ति की क्रांती' के नीचे छिपा लिया जाता है कि मार्क्स ने जिस फ्रांसीसी समाजवाद से प्रेरणा ग्रहण की थी उसके तक्ररीबन सभी प्रमुख हस्ताक्षर (पूठों से लेकर लुई ब्लॉ और पिएर लैरौ तक) 'समाजवादी दृष्टि से' यूरोपीय उपनिवेशवाद को उपयोगी मानते थे। 1840 के दशक की शुरुआत में उनका मानना था कि

<sup>18</sup> रॉबर्ट बील (2015), *युरोसेंट्रिज्म ऐंड द कम्युनिस्ट मूवमेंट*, (किडल एशिडन), कर्सप्लेबेदेब पब्लिशिंग ऐंड डिस्ट्रीब्यूशन, मांट्रियल : विशेष रूप से देखें इस रचना का तीसरा अध्याय : 'युरोसेंट्रिज्म ऐंड द वर्क्स ऑफ़ मार्क्स ऐंड एंगेल्स'।

<sup>19</sup> होरेस बी. डेविस (2015), *टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ़ नैशनलिज्म*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क. इस चर्चित पुस्तक के प्रकाशन से पहले ही डेविस मार्क्स और एंगेल्स के उपनिवेशवाद संबंधी रवैये की आलोचनात्मक जाँच कर चुके थे. देखें, होरेस बी. डेविस (1965), 'नेशंस, कोलोनियल ऐंड सोशल क्लासेज : द पोलीशन ऑफ़ मार्क्स ऐंड एंगेल्स', *साइंस ऐंड सोसाइटी*, खंड 29, अंक 1 : 26-43.

केवल उपनिवेशवाद की कामयाबी के ज़रिये ही उनके अपने देश में 'सामाजिक प्रश्न' को हल हो सकता है, और समाजवाद का निर्यात करने की परिस्थितियाँ बन सकती हैं।<sup>19</sup> ज़ाहिर है कि मार्क्स को उपनिवेशवाद की 'सकारात्मक ऐतिहासिक भूमिका' एक वैचारिक विरासत के रूप में मिली थी, और उन्होंने उसे पूरी तरह से कभी नहीं छोड़ा। जिस समय मार्क्स *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* लिख रहे थे, उस समय युरोपीय उपनिवेशवाद दुनिया के विशाल ग़ैर-युरोपीय उपनिवेशित हिस्से को 'सांख्यिक मिशन' के तहत युरोप की अनुकृति बनाने की तरफ़ ले जाने में समारोहपूर्वक लगा हुआ था। ऐसे समय में मार्क्स का भी स्पष्ट रूप से कहना था कि ग़ैर-युरोपीय दुनिया का प्रारब्ध दरअसल युरोप जैसा बनने में ही है। उनका विश्लेषण था कि पूँजीपति वर्ग ने सर्वाधिक 'बरबर' राष्ट्रों को सभ्यता के दायरे में खींच लिया है, और 'बरबर और अर्धबरबर देशों को सभ्य देशों पर निर्भर बना दिया है ... पूर्व पश्चिम पर निर्भर हो गया है।' अर्थात्, पश्चिम ने दुनिया को अपनी ही छवि के मुताबिक़ गढ़ डाला है। मार्क्स को पक्का यकीन था कि वे अपने जीवन में ही पूर्व की सारी विशिष्टताओं को नष्ट होते देखेंगे। इसी विश्वास जिसके आधार पर वे अपने विमर्श के लिए पूर्व की कोई सैद्धांतिक या राजनीतिक अहमियत मानने के लिए तैयार नहीं थे। यह अवलोकन करते समय मार्क्स के लहजे में न तो अफ़सोस का कोई पुट था, और न ही वे उपनिवेशवादियों के विजेता मनोभाव और सांख्यिक अहंमन्यता के प्रति कोई आपत्ति दर्ज करा रहे थे।<sup>20</sup>

चूँकि मार्क्स की निगाह में उपनिवेशवाद उन 'वास्तविक ऐतिहासिक शक्तियों' का एजेंट था जो ख़ास तौर से एशिया और आम तौर से ग़ैर-युरोप को उनकी अपनी सैद्धांतिक योजना द्वारा निर्धारित दिशा में ले जाने में लगा हुआ था, इसलिए ऐसे अभिकर्ता का विरोध कैसे किया जा सकता था। इन तथ्यों से कौन इन्कार कर सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स ने अमेरिका के 'जोशीले याँकियों' द्वारा 'आलसी मैक्सिकोवासियों' को पराजित करने पर खुशी जताई थी। यह अलग बात है कि विख्यात अमेरिकी सेनापति जनरल शेरमन तक ने मैक्सिकन युद्ध को एक ताक़तवर राष्ट्र द्वारा एक दुर्बल राष्ट्र पर युद्ध थोपे जाने की सर्वाधिक अन्यायपूर्ण कार्रवाई करार दिया था। मार्क्स और एंगेल्स ने अमेरिका द्वारा कैलिफ़ोर्निया के 'राज्य-हरण' का भी समर्थन किया था। दोनों जगह उनका तर्क था कि अब मैक्सिको और कैलिफ़ोर्निया का आर्थिक विकास तेज़ी से हो सकेगा। अफ़्रीम युद्ध के संदर्भ में मार्क्स ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ खड़े चीनियों के बारे में मान्यता व्यक्त की थी कि चीनी 'आनुवंशिक रूप से मूर्ख' होते हैं। अपने निजी पत्र-व्यवहार में 'निग्गर' जैसे शब्दों का इस्तेमाल करने वाले मार्क्स 1865 में प्रकाशित फ़्रांसीसी लेखक ट्रेमाउ की इस थीसिस को स्वीकार करने के लिए तैयार थे कि किसी भी देश की मिट्टी के भू-वैज्ञानिक गुणों के आधार पर उसके राष्ट्रीय चरित्र की समझ बनानी चाहिए। ट्रेमाउ ने यह दावा भी किया था कि नीग्रो नस्ल दरअसल एक उच्चतर प्रजाति का गिरा हुआ रूप है। मार्क्स ने एंगेल्स को पत्र लिख कर ट्रेमाउ की इन धारणाओं के प्रति अपनी संस्तुति जताई थी। ग़नीमत यह रही कि एंगेल्स को ट्रेमाउ के विचार नापसंद थे। उन्होंने अपने दोस्त को झिड़कते हुए सलाह दी कि उन्हें ऐसी प्रपत्तियों को स्वीकार करने के प्रति अधिक सतर्कता बरतनी चाहिए।<sup>21</sup> 1848 में जब फ़्रांस ने अल्जीरिया को औपचारिक रूप से अपना हिस्सा बना लिया और एंगेल्स ने मार्क्स को इसकी सूचना दी तो मार्क्स की टिप्पणी थी कि बेहतर है, अब अल्जीरियायियों को सभ्यता के संसार में प्रवेश करने का मौक़ा मिल जाएगा। इसी साल जनवरी में एंगेल्स प्रसन्नता और संतोष व्यक्त करते हुए लिख चुके थे, 'कुल मिला कर हमारे विचार से, बड़े सौभाग्य से अरब सरदार (अब्दुल क़ादिर जिनके हाथ में फ़्रांस के ख़िलाफ़ अरबों के प्रतिरोध का नेतृत्व था) पकड़ लिया गया है। बेदुई जनों के संघर्ष में सफलता की कोई आशा न थी। यद्यपि जिस ढंग से ब्राज़ो जैसे

<sup>20</sup> देखें, नेट पत्रिका *जेकोबिन* पर थियरी ट्रैपियू का लेख 'द रूट्स ऑफ़ कार्ल मार्क्सज़ एंटी-कोलोनियलिज़म'.

<sup>21</sup> देखें, संजय सेठ (1992), 'लेनिन्ज़ रिफ़ॉर्मूलेशन ऑफ़ मार्क्सिज़म : द कोलोनियल क्वेश्चन एज़ अ नैशनल क्वेश्चन', *हिस्ट्री ऑफ़ पॉलिटिकल थॉट*, खंड 13, अंक 1 : 99-128.

<sup>22</sup> होरेस बी. डेविस (1965), पूर्वोद्धृत.

निर्दयी सिपहसालारों ने युद्ध का संचालन किया, वह नितांत भर्त्सना के योग्य है, परंतु अल्जीरिया पर विजय सभ्यता की प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण और सौभाग्य की बात है।'

मार्क्स और एंगेल्स इस कदर युरोप-कीलित थे कि उनकी तरफ से श्वेत उपनिवेशवादियों के खिलाफ अफ्रीकी मूल के अश्वेतों के विद्रोह को समर्थन देने से कन्नी काटने की कोशिश की जाती थी (श्वेतांगों का नस्लवाद कुछ मुँहदेखी आपत्तियों के अलावा मार्क्स के लिए कभी विचारणीय प्रश्न रहा ही नहीं)। मार्क्स पर बहुतेरे विद्वानों ने 'व्हाइट रेसिस्ट' होने का आरोप लगाया है।<sup>23</sup> यह इलज़ाम भले ही कुछ बढ़ा-चढ़ा लगे, लेकिन मार्क्स-एंगेल्स के वांगमय का इस दृष्टि से अध्ययन करने पर कुछ बेचैन करने वाली बातें ज़रूर सामने आती हैं। इनसे सवाल उठता है कि उत्पादन और आर्थिक विकास को मनुष्यता के विकास की चालक शक्ति मानने वाले चिंतकों के विश्लेषण में नस्ल का विचार प्रगट ही क्यों होना चाहिए था? मार्क्सवादियों ने इस सवाल का जवाब देने की बहुत कोशिश की है। इस उद्यम की शुरुआत मार्क्सवाद के ऑस्ट्रियायी प्रवक्ता ऑटो बाँउर से मानी जा सकती है। उन्होंने 1907 में दक्षिणी स्लाव नस्लों को एंगेल्स द्वारा 'इतिहास से वंचित राष्ट्र' करार देने वाले अवलोकन से स्वयं को अलग करते हुए दावा किया था कि उनकी ये बातें उनके और मार्क्स द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक भौतिकवाद की पद्धति से मेल नहीं खातीं। बाँउर की ही तरह और भी बहुत से मार्क्सवादियों ने यह दलील दी है। इस सिलसिले में यह दलील भी बहुत लोकप्रिय है कि मार्क्स और एंगेल्स नस्लवादी नहीं थे, लेकिन उनमें उन्नीसवीं सदी के युरोप की नस्लवादी अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करने के प्रति सतर्कता नहीं थी। यानी वे नस्लवादी हुए बिना इस शब्दावली का प्रयोग करते थे। एक बहुप्रचलित दलील यह भी है कि नस्लवादी रुझान दरअसल हिगेल के विमर्श में निहित कुछ विकृतियों के अवशिष्ट हैं जो मार्क्स में किसी तरह बचे रह गए थे। इस सिलसिले में मैंने जितनी रचनाओं का अध्ययन किया है, उनमें एरिक वान री का काम सर्वाधिक संतुलित और विश्वसनीय प्रतीत होता है। उन्होंने मार्क्स-एंगेल्स के समस्य वांगमय में प्रगट होने वाली नस्ली टिप्पणियों को उनके इतिहास संबंधी सिद्धांतीकरण के परिप्रेक्ष्य में रख कर कुछ वाजिब लगने वाले निष्कर्ष निकाले हैं—

मार्क्स और एंगेल्स हर समय 'नस्लों' में निम्नतर और उच्चतर गुणों को निहित करते हुए दिखते हैं। वे बताते हैं कि सफ़ेद चमड़ी वाले काली चमड़ी वालों से अधिक बुद्धिमान होते हैं, आर्य और सेमेटिक में दूसरी नस्लों से अधिक क्षमता होती है, दक्षिण के स्लाव लोगों में मागयरों और जर्मनों जैसी सहजात ऊर्जा और आवेग नहीं होता, कैलिफ़ोर्निया को अमेरिकी लोग तो आर्थिक रूप से विकसित कर सकते हैं लेकिन मैक्सिकन नहीं कर सकते, अंग्रेज़ों की औद्योगिक और औपनिवेशिक सफलताएँ अंशतः एक राष्ट्र के रूप में उनकी सहजात प्रकृति का परिणाम हैं, और एशियनों की पराजय इसलिए हुई कि उनके भीतर युरोपीय नस्लों का उद्यमशील जीवत नहीं था।

निस्संदेह न मार्क्स और न ही एंगेल्स आर्थर गोबिनियू द्वारा प्रवर्तित उस सिद्धांत के समर्थक नहीं थे जो नस्ल को सर्वोपरि प्रमुखता देते हुए उसे इतिहास की चालक-शक्ति करार देता है। मार्क्स और एंगेल्स नस्ल को मनुष्यता की प्राकृतिक स्थितियों में एक तत्व से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। लेकिन, उन्होंने इतिहास की अपनी भौतिकवादी व्याख्या में एक विशेष स्थान अवश्य दिया। उन्होंने नस्ल को उन प्राकृतिक परिस्थितियों के अंश के रूप में परिभाषित किया जिन पर उत्पादन निर्भर होता है। इस लिहाज़ से उन्होंने राष्ट्रीय अर्थतंत्रों और श्रमिक उत्पादकता के विकास को मानव की प्रजातीय सामग्री द्वारा प्रभावित होने की सैद्धांतिक संभावनाओं के द्वार खोल दिये। इस तरह भले ही नस्ल इतिहास की प्रमुख चालक-शक्ति न रह गई हो, लेकिन वह महत्त्वपूर्ण अवश्य हो गई। उच्चतर गुणों वाली नस्लें उत्पादन-जनक बन गईं, और समझा जाने लगा कि निम्नतर गुणों वाली नस्लें मानवता की प्रगति को रोकने वाली मानी जाने लगीं। इस प्रकार आर्थिक विकास को रोकने या बढ़ाने के संदर्भ में नस्ल ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत में एक हद तक चालक-शक्तियों का अंग बन कर उभरी।<sup>24</sup>

<sup>23</sup> मसलन, कार्लोस मूर (1974-1975), 'वर मार्क्स एंड एंगेल्स व्हाइट रेसिस्ट? : द प्रोलेट-आर्यन आउटलुक ऑफ़ मार्क्सिज़म', *बर्कले जर्नल ऑफ़ सोसियोलॉजी*, अंक 19 : 125-156; नैथियल वेयल (1977), 'नोट्स ऑन कार्ल मार्क्सिज़ रेसियल फ़िलोसॉफी ऑफ़ पॉलिटिक्स एंड हिस्ट्री', *द मेनकाइंड क्वार्टरली* : 59-70; वेयल (1979) ने इस बारे में एक पुस्तक भी लिखी है, *कार्ल मार्क्स : रेसिस्ट*, आर्लिंगटन हाउस, न्यूयार्क. इस सूची में और भी कई रचनाएँ जोड़ी जा सकती हैं.

<sup>24</sup> देखें, एरिक वान री (2018), 'मार्क्स एंड एंगेल्सिज़ थियरी ऑफ़ हिस्ट्री : मेकिंग सेंस ऑफ़ द रेस फ़ैक्टर', *जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल आइडियोलॉजी*, <https://doi.org/10.1080/13569317.2019.1548094>

इस मुकाम पर यह जाँच भी की जा सकती है कि मार्क्स किसे सभ्य और किसी बर्बर मानते थे। मार्क्स स्वयं को 'उन्नत पश्चिमी सभ्यता' के निस्संकोच पैरोकार के तौर पर पेश करते थे। उपनिवेशकों को पश्चिमी सभ्यता के वर्चस्व के वाहक के रूप में देखना या पश्चिम की सांभ्यतिक आलोचना उनके लिए कल्पनातीत थी। इसका सबसे मुखर नमूना 1853 की भारत संबंधी रचनाओं में उस समय दिखाई दिया जब मार्क्स युरोपीय ज्ञानोदय के स्कॉटिश अध्याय (स्कॉटिश इनलाइटेनमेंट) द्वारा सूत्रीकृत 'सभ्यताओं के पदानुक्रम' के तहत भारतीय सभ्यता पर उन्नत युरोपीय सभ्यता की विजय का स्पष्ट समर्थन करते नज़र आए। उन्होंने लिखा :

इंग्लैण्ड के भारत में दो उद्देश्य हैं। एक विध्वंससात्मक, जिसमें एशियायी समाज-व्यवस्था को उन्मूलित करना है। दूसरा, पुरातन एशियाई समाज के विध्वंस को पुनर्जीवन की तरफ ले जाना। अरब, तुर्क, तातार, मंगोल इत्यादि ने भारत को क्रमशः जीता, शीघ्र ही उनका हिंदूकरण हो गया। यह इतिहास का एक शाश्वत नियम है जिसके तहत बरबर विजेताओं को श्रेष्ठ सभ्यता के द्वारा पराभूत कर दिया जाता है। ब्रिटिश ऐसे पहले उन्नत सभ्यता के लोग थे जिन्होंने भारत को जीता। इसलिए वे हिंदू-सभ्यता की पकड़ से बाहर रह गये। उन्होंने भारत की देशी सामुदायिक संरचना को, उत्पादन की देशी-प्रणाली को, और देशज समाज के श्रेष्ठ और उच्चतर पहलुओं को उन्मूलित कर उखाड़-फेंका। इतिहास के पन्नों में भारत में अंग्रेज़ी राज का वर्णन इस विध्वंस के अलावा किसी और तरीके से नहीं किया जा सकता।<sup>25</sup>

इस उद्धरण में मार्क्स ने अपने एक ही युरोकेंद्रित तीर से दो एशियायी सभ्यताओं का शिकार (हिंदू सभ्यता के मुकाबले मुस्लिम सभ्यता की हीनता और इन दोनों की युरोपीय सभ्यता के मुकाबले निकृष्टता) किया है। ध्यान रहे कि एडिनबरा विश्वविद्यालय में घटित हुए स्कॉटिश एनलाइटेनमेंट का नेतृत्व एडम स्मिथ के हाथ में था। अपनी रचनाओं, खासकर 1776 में प्रकाशित विश्वविख्यात *एन इनक्वैरी इनटू द नेचर ऐंड कॉजैज़ ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशंस* में, उन्होंने अपनी इतिहास-दृष्टि की व्याख्या करते हुए इस मान्यता की प्रस्तुति की थी। उन्होंने प्रतिपादित किया था कि मानव-सभ्यता चार चरणों से गुज़रती हुई क्रमशः प्रगति करके अपने श्रेष्ठतम और उच्चतम चरण में पहुँची है। उनके लिहाज़ से ये चार चरण थे : आखेट आधारित सभ्यता, पशुचारी सभ्यता, कृषि आधारित सभ्यता और वाणिज्यिक गतिविधियों पर आधारित सभ्यता। सभ्यताओं का यह पदानुक्रम स्पष्ट रूप से संकेत करता था कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी वाणिज्यिक सभ्यता के वाहक हैं और इसीलिए उपनिवेशितों की सभ्यताओं (मुख्य तौर पर पशुचारी और कृषि प्रधान अफ्रीकी और एशियायी राष्ट्र) से श्रेष्ठ हैं, और इसी कारण से उन्हें इन राष्ट्रों को सभ्यता के उच्चतम चरण में पहुँचाने का अधिकार मिल जाता है।<sup>26</sup>

मार्क्स पर हिगेल और फ़ायरबाख़ के असर की चर्चा तो अक्सर की ही जाती है, लेकिन पूँजीवादी अर्थशास्त्र के सिरमौर एडम स्मिथ के इस प्रभाव को सफ़ाई से छिपा लिया जाता है। दरअसल, स्मिथ के इस सूत्रीकरण ने केवल ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को ही प्रेरणा नहीं दी, बल्कि मार्क्स की इतिहास-दृष्टि को उसकी शकल-सूरत प्रदान करने की भूमिका भी निभाई। स्मिथ के इन विचारों का उद्गम कहाँ था? इस प्रश्न का उत्तर देना यहाँ विषयानुकूल होगा। वालरस्टीन के अनुसार इतिहास के चरणबद्ध विकास के सभी सिद्धांत मुख्य तौर पर इतिहास-लेखन के 'व्हिग दृष्टिकोण' की उपज थे। चाहे वह थियरी ऑफ़ स्टैट्स की हो या स्पेंसर की या स्मिथ की। व्हिग इतिहासकारों की मान्यता थी कि अतीत को अनिवार्यतः वर्तमान बनना ही है, इसलिए नहीं कि ऐसा स्वाभाविक रूप से होता है, बल्कि इसलिए कि वर्तमान हमेशा ही सर्वश्रेष्ठ समय होता है। व्यापक रूप से पाई जाने वाली इतिहास-लेखन की यह प्रवृत्ति वैसे तो स्वयं को युरोपीय ज्ञानोदय से बँधा हुआ मानती है, लेकिन इसकी बुनियाद में ईसाइयत द्वारा प्रवर्तित वह प्रयोजनमूलक

<sup>25</sup> कार्ल मार्क्स (1853), 'द फ़्यूचर रिज़ल्ट्स ऑफ़ द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया', *न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून*, 8 अगस्त. <https://marxists.catbull.com/archive/marx/works/1853/07/22.htm>, 16 मार्च, 2019 को देखा गया।

<sup>26</sup> दरअसल, स्कॉटिश ज्ञानोदय के सभी विद्वानों की मुख्य दिलचस्पी मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करने वाला नियमों के सूत्रीकरण में थी। इसीलिए एडम स्मिथ समेत इस ज्ञानोदय के अन्य हस्ताक्षर भी नैतिकता और सभ्यता के विषय में विशेष रुचि रखते थे। देखें, क्रिस्टोफ़र जे. बेरी (1997), *द सोशल थियरी ऑफ़ द स्कॉटिश इनलाइटेनमेंट*, एडिनबरा युनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबरा।

अवधारणा है जिसके मुताबिक मानवता का प्रारब्ध कुछ तयशुदा लक्ष्यों की तरफ प्रगति करना ही है।<sup>27</sup> 'व्हिग हिस्टोरियोग्राफी' के इन आग्रहों का उपनिवेशित समाजों के चिंतन पर खास असर पड़ना लाजिमी था। उपनिवेशक चाहते ही थे कि उपनिवेशितों का संबंध उनके अतीत से टूट जाए। वे अतीत से सामग्री ले कर अपने उपनिवेशित वर्तमान की आलोचना न कर सकें। बल्कि, इसके उलट अधीनस्थ वर्तमान को सर्वश्रेष्ठ समय मान कर अपने अतीत का अवमूल्यन करने लगे। उपनिवेशीकरण के संदर्भ में इस सिद्धांत ने एक भूमिका और निभाई। उसने काल और प्रगति से संबंधित युरोक्रीश्चियन समझ को ज्ञानोदय के विज्ञानीकृत और तर्कणावादी आवरण में लपेट कर उपनिवेशितों को थमा दिया।

उपनिवेशवाद की प्रगतिशील और ऐतिहासिक रूप से अपरिहार्य भूमिका का हवाला मार्क्स ने केवल भारत के बारे में ही नहीं दिया है। रॉबर्ट बील ने *कैपिटल* के पहले खंड का हवाला देते हुए स्पष्ट किया है कि मार्क्स ने एक नहीं, बल्कि कई बार 'वर्जिन लैंड' की उपनिवेशवादी प्रस्थापना का समर्थन किया। अमेरिका और अफ्रीका की धरती पर ब्रिटिश और डच उपनिवेशवादियों ने इसी तर्क के आधार पर क्रब्जा किया था। भारतीय समाज के बारे में मार्क्स की युरोकेंद्रीयता तो इतनी आक्रामक थी कि उन्होंने अपने एक प्रेरणास्रोत लुडविग फ्रायरबाख द्वारा की गई संस्तुति की भी परवाह नहीं की जिसमें उस भौतिकवादी दार्शनिक ने कहा था कि मानवता को एक इकाई की तरह देखना चाहिए और इस नजरिये के तहत बहुदेववाद एवं मूर्तिपूजा तक में मानवीय सत्य को दर्शन किये जा सकते हैं। कौन भूल सकता है कि मार्क्स ने हिगेल के तर्ज पर हिंदुओं की इसलिए भी निंदा की थी कि वे बंदर (हनुमान) और गाय (शबला) की पूजा करते हैं। जहाँ तक एंगेल्स का सवाल है, उन्होंने प्राक्-औद्योगिक समाजों के बारे में धमकी भरे स्वर में कहा था कि या तो उन्हें अपना उद्योगीकरण कर लेना चाहिए, या फिर उन्हें उपनिवेशित होने के लिए तैयार रहना चाहिए।<sup>28</sup>

युरोपीय विद्वत्ता के दायरे में खोजबीन करने से पता चलता है कि पूर्वी समाजों, खास तौर पर भारत से संबंधित मार्क्स की यह राय अपनी आहत कई पश्चिमी चिंतकों के लेखन में पहले ही स्पष्ट रूप से सुना चुकी थी। हिगेल, मोंतेस्क्यू और जॉस के भारत संबंधी विचारों के अलावा मुनरो, मेटकाफ, एल्फिस्टन और अन्य ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा किये गये वर्णनों में इस तरह की बातें मौजूद थीं। एडम स्मिथ का जिक्र ऊपर किया ही जा चुका है। जे.एस. मिल का भारत संबंधी विमर्श भी यही सब कहता था। रिचर्ड जॉस और फ्रांस्वा बर्नियर के ओरिएंटलिज्म की भूमिका भी इस संबंध प्रभावी साबित हुई।<sup>29</sup> स्पष्ट रूप से मार्क्स के पूर्व संबंधी विचारों का उल्लेखनीय पहलू उनके ऊपर पड़ा प्राच्यवादी असर भी है। इसके दो पहलू हैं : मार्क्स के बुनियादी चिंतन पर दिखने वाला प्राच्यवादी प्रभाव; और मार्क्सवाद के भीतर प्राच्यवाद की पैठ। ब्रायन एस. टर्नर ने इस्लामी समाजों के संदर्भ में इस प्रभाव का सूत्रीकरण अपनी रचना *मार्क्स ऐंड द ऐंड ऑफ ओरिएंटलिज्म* में किया है। इस उद्धरण में अगर इस्लामिक समाज की जगह भारतीय समाज या हिंदू समाज पढ़ लिया जाए तो यह भारत पर बखूबी लागू किया जा सकता है—

'ओरिएंटलिज्म' से मेरा मतलब आस्थाओं, प्रवृत्तियों और सिद्धांतों के उस संलक्षण से है जिसने न केवल इस्लामिक अध्ययन की क्लासिकल रचनाओं को संक्रमित किया है, बल्कि भूगोल, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के विस्तृत क्षेत्रों में भी यह रोग लगा दिया है। इस संलक्षण के बुनियादी तर्क इस प्रकार हैं : 1. सामाजिक विकास किसी भी समाज की अंतर्भूत विशेषताओं की देन होता है; 2. किसी भी समाज का ऐतिहासिक विकास या तो एक के बाद एक होने वाली प्रगति के जरिये होता है या फिर उसे क्रमिक पतन से गुजरना पड़ता है; 3. समाज एक सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति है अर्थात् समाज की संस्थाएँ उसके बुनियादी सार को व्यक्त करती हैं। इन तर्कों के जरिये प्राच्यवादी एक आदर्श द्विभाजन तैयार करते हैं जिसमें पश्चिमी समाज के आंतरिक सार को लोकतांत्रिक उद्योगवाद की तरफ गतिशीलता के साथ प्रगति करते हुए दिखाया जाता है, और इस्लामिक समाज या तो अनंतकाल से गतिहीन या शुरुआत से ही पतनशीलता के शिकार बताये जाते हैं। ... प्राच्यवाद की (मार्क्सवादी) आलोचना लगातार मुश्किलों में फँसती चली

<sup>27</sup> देखें, इमानुएल वालरस्टीन (1997), पूर्वोद्धृत. व्हिग इतिहास-लेखन का यह सूत्रीकरण सबसे पहले हरबर्ट बटरफ्रील्ड ने अपनी 1931 में प्रकाशित पुस्तक *द व्हिग इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री* में किया था.

<sup>28</sup> रॉबर्ट बील (2015), पूर्वोद्धृत.

<sup>29</sup> देखें, मैरियन सावेर (1977/2012), *मार्क्सिज्म ऐंड द क्वेश्चन ऑफ द एशियाटिक मोड ऑफ प्रोडक्शन*, किडल एडिशन, मार्निस निजहॉफ, द हेग, नीदरलैंड्स.



जाती है, क्योंकि स्वयं मार्क्सवाद ने भी प्राच्यवाद की भारी खुराक ले रखी है। ... इस स्थिति का एक हद तक कारण मार्क्सवाद के हेगेलवादी संस्करण और और प्राच्यवाद के बीच परस्परव्यापिता है। यह है इतिहास को एक खुलते हुए सार और 'एशियायी समाज' को जड़ग्रस्त रूप में देखना।<sup>30</sup>

मार्क्स की भारत संबंधी रचनाओं की समीक्षा आम तौर पर राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र की निगाह से की जाती है। ज़्यादा से ज़्यादा यह कह दिया जाता है कि उन्होंने भारत पर कोई अनुसंधान नहीं किया था या उन्हें भारतीय समाज के बारे में तथ्यात्मक जानकारी नहीं थी। लेकिन, यह नहीं पूछा जाता कि उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब मार्क्स भारत पर लिख रहे थे, उस समय युरोपियनों के पास कौन-कौन सी भारत संबंधी जानकारियाँ आसानी से उपलब्ध थीं? इन जानकारियों में से मार्क्स ने किनका इस्तेमाल किया, और किन्हें नज़रअंदाज़ किया? हम जानते हैं कि अठारहवीं सदी के आखिरी वर्षों में विलियम जॉस और उनके साथी विद्वानों, अफ़सरों और पादरियों के बौद्धिक उद्यमों के जरिये ब्रिटिश ओरिएंटलिज़म अपने दूसरे चरण में पहुँच चुका था। संस्कृत भाषा और साहित्य के जरिये एक स्वर्णिम भारतीय अतीत की संकल्पना युरोप में प्रचलित हो चुकी थी। नव-प्राच्यवादी कही जाने वाली यह टोली मानती थी कि भारत के चमकदार प्राचीन अतीत के मुकाबले उसका मध्ययुग और वर्तमान पतनशीलता के ढलान पर फिसलता चला जा रहा है। यह देखना दिलचस्प होगा कि मार्क्स ने ब्रिटिश प्राच्यवाद के इस अध्याय पर ध्यान नहीं दिया, और युरोपीय ओरिएंटलिज़म के पूर्ववर्ती अध्याय को अपना स्रोत बनाया जो मुख्यतः उन युरोपीय मुसाफ़िरों के भारत संबंध वृत्तांतों पर आधारित था जो एशियायी भाषाएँ नहीं जानते थे। नतीजा यह निकला कि मार्क्स की भारत संबंधी धारणाओं और भारतीय समाज को हमेशा से अंधकार में डूबा हुआ मानने वाले ब्रिटिश उपयोगितावादियों (जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल और जेरेमी बेंथम वगैरह) की भारत संबंधी धारणाओं के बीच कोई अंतर नहीं रह गया (यह अलग बात है कि मार्क्स ने जेम्स मिल को भी पढ़ने की ज़हमत नहीं उठाई थी)।

असलियत यह है कि मार्क्स की कई भारत संबंधी धारणाओं का उद्गम फ्रांस्वा बर्नियर (1620-1688) के यात्रावृत्तांत *वॉयजेज़ कांटेनांट ल डिस्क्रिप्शन डेस एस्टाट ग्रांड मुगल* में निहित है। फ्रांसीसी चिकित्सक और शरीरशास्त्री बर्नियर के क्रम सत्रहवीं सदी में भारत में पड़े। वे बारह साल तक भारत में रहे। उन्होंने नौ साल तक मुगल सम्राट औरंगज़ेब के डॉक्टर की भूमिका भी निभाई। 1670 में फ्रांस लौटने के बाद बर्नियर ने अपने भारत-प्रवास का ब्योरा लिखा जिसका कई युरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। बर्नियर की यह रचना युरोप में काफ़ी पढ़ी गई, और उनके द्वारा प्रवर्तित भारत संबंधी धारणाओं ने युरोपीय विद्वत्ता को बहुत प्रभावित किया। बर्नियर ने ही युरोप को पहली बार जानकारी दी कि भारत में ज़मीन का निजी स्वामित्व अनुपस्थित है। राजा या बादशाह सारी ज़मीन का स्वामी होता है। 'ओरिएंटल डिस्पांटेज़म' या प्राच्य निरंकुशता के विचार का मुख्य स्रोत भी बर्नियर में निहित है। अंधविश्वास भारतीय समाज की एक निर्धारक स्थिति है— यह धारणा भी बर्नियर के वृत्तांत से निकली है। (बर्नियर ने युरोपियनों और ईसाई पादरियों के अंधविश्वास की चर्चा भी की है, लेकिन उनका वृत्तांत अंधविश्वास को युरोपीय समाज का निर्धारक तत्त्व नहीं करार देता)। बर्नियर ने ही दावा किया कि भारत के मुकाबले युरोप की सामाजिक और क़ानूनी व्यवस्था श्रेष्ठ है। बर्नियर के वृत्तांतों में मुखर नहीं, बल्कि प्रच्छन्न नस्लवाद भी है। बर्नियर ने ही पहली बार भारतीय कारीगरों को आदतन बेहद आलसी और अकर्मण्य घोषित किया।<sup>31</sup> उन्होंने एक स्त्री को सती होने से भी बचाने का दावा भी किया। बर्नियर के ब्योरों में 'एशियायी निरंकुशता' को युरोप के 'एनलाइटेंड एब्सोल्यूटिज़म' और एशिया के 'बरबर' रिवाज़ों को युरोप के 'उत्तम समाज' के बरक्स रख कर पेश किया गया।

<sup>30</sup> ब्रायन एस. टर्नर (1978/2014), *मार्क्स ऐंड द एंड ऑफ़ ओरिएंटलिज़म*, स्टूलेज, न्यूयार्क (अंतिम अध्याय 'अप्रेज़ल : द डिलेमा ऑफ़ इपिस्टेमोलॉजी') : 81-82.

<sup>31</sup> इस तरह की नस्ली टिप्पणियाँ श्वेतांग समाज में रहने वाले एशियायी लोगों को आज तक सुननी पड़ती हैं। देखें, ऑस्ट्रेलियाई क्रिकेट खिलाड़ी उस्मान ख़ाजा का वक्तव्य कि उन्हें पाकिस्तानी मूल का होने के कारण ऑस्ट्रेलिया में बचपन से ही हमेशा 'आलस' के तौर पर देखा जाता रहा है। 'उस्मान ख़ाजा : 'लेज़ी' क्रिटीसिज़म रिज़ल्ट ऑफ़ रेशियल स्टीरियोटाइप', *स्पॉर्ट्स स्टार*, 16 सितम्बर, 2020.

इन बातों और निष्कर्षों को कई अन्य युरोपीय विद्वानों के साथ-साथ मोतेस्वी ने भी आत्मसात किया, और हिगेल ने भी। *न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून* में अपने भारत संबंधी लेख के प्रकाशन के तीन हफ्ते पहले यानी दो जनवरी, 1853 को एंगेल्स को लिखे अपने पत्र में मार्क्स ने भारत के 'कैपिटल-सिटी' से संबंधित जानकारी और निजी भू-संपत्ति की गैर-मौजूदगी से जुड़े अपने दावों के स्रोत के बारे में बर्नियर के वृत्तांत का उल्लेख किया है। चार दिन बात एंगेल्स ने उनके पत्र का उत्तर देते हुए पुष्टि की कि भारत की जलवायु और मिट्टी की दशा को निजी सम्पत्ति की अनुपस्थिति का कारण मानने की उनकी थीसिस भी बर्नियर की बातों से सही ठहरती है (क्या एंगेल्स की यह थीसिस मार्क्सवाद के संस्थापकों पर भौगोलिक नियतिवाद— जो हिगेल की खास प्रवृत्ति थी— का आरोप लगाने की तरफ नहीं ले जाती?)। बर्नियर का प्रभाव केवल भारत संबंधी पत्रकारीय लेखों में ही नहीं बल्कि *ग्रुंदिस्से* जैसी रचना में भी दिखता है, जो एक तरह से *कैपिटल* की पूर्व-पीठिका है। 'एशियन कम्युनल सिस्टम' में 'कृषि और उद्योग की एकता' की चर्चा करते समय मार्क्स इस जानकारी का श्रेय बर्नियर को ही देते हैं जिसने 'भारतीय नगरों की तुलना फ़ौजी शिविरों के साथ की थी'।<sup>32</sup>

कई विद्वानों को लगता है कि मार्क्स को उपनिवेशवाद का पूर्ण समर्थक ('इतिहास का अचेत औज़ार') करार देने से पहले हमें उनके रचनाकर्म के आखिरी दौर के कुछ अवलोकनों पर ध्यान देना चाहिए। इस दौर में मार्क्स ग्रामीण समाज और सामुदायिक सम्पत्ति से सीधे समाजवाद की मंज़िल में जाने की संभावना पर भी सोचने लगे थे। इस लिहाज़ से उन्हें भारतीय समाज के ग्रामीण ढाँचे में सामाजिक पुनरुज्जीवन की उम्मीद दिखने लगी थी। लेकिन, यहाँ भी मार्क्स पुनरुज्जीवन के रूप में भारतीय समाज का अंतिम प्रारब्ध युरोप जैसा बनने में ही देख रहे थे, अर्थात् युरोकेंद्रीयता जारी थी। जो भी हो, मार्क्सवाद के संदर्भ में मार्क्स के इस पहलू को 'देर आयद दुरुस्त आयद' की तर्ज़ पर भी तरजीह नहीं दी जा सकती। कारण यह कि कम्युनिस्ट पार्टियों, वामपंथी बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों के कार्यक्रमों और गतिविधियों में 'लेट मार्क्स' के अवलोकनों को कभी कोई (जी हाँ, कोई) जगह नहीं मिली। मार्क्स के ये अवलोकन केवल विमर्श तक सीमित रह गए। युरोकेंद्रीयता की विभिन्न क्रिस्मों के तहत हर जगह पूँजीवाद की खोज करना मार्क्सवादी शोध और विद्वत्ता का मानक बन गया।

**लेनिन और मार्क्सवाद का पूर्वी अध्याय :** मार्क्स और मार्क्सवाद की युरोकेंद्रीयता की यह चर्चा उस समय तक अधूरी रहेगी जब तक लेनिन द्वारा किये गए औपनिवेशिक प्रश्न के सूत्रीकरण और पूरब के देशों में क्रांतियों के सवाल पर उनके विचारों की समीक्षा न कर ली जाए। इसमें कोई कोई शक नहीं कि अगर लेनिन के प्रयास न होते तो मार्क्सवाद का एशिया की भूमि से कोई नाता न बन पाता, क्योंकि मार्क्स के विचारों ने उनके वाद और औपनिवेशिक प्रश्न व राष्ट्रवाद के बीच किसी तरह के लेन-देन की संभावनाएँ तक्ररीबन समाप्त कर दी थीं। लेनिन ने अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में इस संभावना को जीवित करने के लिए लम्बा संघर्ष किया, और अंत में बेहतरीन नवाचार करते हुए अपनी साम्राज्यवाद संबंधी थीसिस (*इम्पीरियलिज़म : द हाईएस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म*) के ज़रिये उत्पीड़क और उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच के मुखर अंतर्विरोध (राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार) को रेखांकित करके उपनिवेशित और अर्धउपनिवेशित देशों के भीतर मार्क्सवादी प्रयोगों के लिए एक सुदृढ़ आधारशिला रखी।

निस्संदेह लेनिन की साम्राज्यवाद संबंधी थीसिस बहुत लम्बे समय तक प्रभावशाली रही। लेकिन, यहाँ प्रश्न यह है कि क्या लेनिन की यह कामयाबी मार्क्सवाद को 'डिकोलोनियलिटी' की मंज़िल तक ले जाने में सफल हो सकती थी? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए लेनिन के पूर्वी समाजों से संबंधित विचारों के इतिहास पर गौर करना ज़रूरी है। 1900 के इर्दगिर्द रचे गए लेनिन के लेखन में पूर्व का उल्लेख लगभग गायब दिखता है। इस दौर में लेनिन मुख्य तौर पर रूस के पॉपुलिस्ट कहे जाने वाले उन लोगों और सोशलिस्ट रेवोल्यूशनरी मूवमेंट्स से संघर्ष करते नज़र आते हैं जो स्लाविक नस्ल के 'स्पेशल जीनियस' में विश्वास करते हुए रूस को पश्चिम से भिन्न बताते थे। इन लोगों का विचार था कि

<sup>32</sup> देखें, कोलजा लिंडनर (2010), 'मार्क्सिज़ युरोसैंट्रिज़म : पोस्टकोलोनियल स्टडीज़ ऐंड मार्क्स स्कॉलरशिप', *रैडिकल फ़िलॉसफ़ी* : 27-41 (एचएएलएएसएएस-00504102)।

पूँजीवाद एक पश्चिमी बुराई है, और रूस को अपने पारम्परिक ग्रामीण समाज की संरचनाओं की तरफ लौटना चाहिए। इसके विपरीत लेनिन का दावा था कि रूस अपनी प्रकृति में पिछड़े हुए ग्रामीण पूर्व जैसा न हो कर उद्योगीकरण के जरिये उन्नत हुए पश्चिम जैसा है, और उसे वैसा ही बनना है। यहाँ लेनिन रूस के 'पश्चिमीपन' को हर तरह से उभारने की कोशिश करते हुए दिखते हैं। वे चाहते हैं कि रूस को युरोप का हिस्सा समझ कर उसे पश्चिम की विरासत से जोड़ा जाए। इस दौर में वे जब भी रूस के एशियाटिक किरदार का जिक्र करते हैं, तो वह रूस के पिछड़ेपन का रूपक बन कर ही सामने आता है।

1908 ('इनफ्लेमेबिल मैटेरियल इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स') और 1913 ('द अवेकनिंग इन एशिया' और 'द हिस्टोरिकल डेस्टिनी ऑफ़ द डॉक्ट्रिन ऑफ़ कार्ल मार्क्स') में लिखी अपनी रचनाओं में लेनिन ने पहली बार पूर्व को अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा संघर्ष के हिस्से के रूप में व्याख्यायित किया। क्या लेनिन के ये अवलोकन एशिया के इतिहास के किसी अध्ययन या समझ पर आधारित थे? इन रचनाओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि लेनिन भी मार्क्स की ही भाँति एशिया को 'मध्ययुगीन जड़ता' और पिछड़ेपन की 'नीम बेहोशी' में डूबा हुआ मानते हुए दिखते हैं। एशिया की 'अवेकनिंग' लेनिन की निगाह में उसके अपने इतिहास या उसके अपने रास्ते की देन नहीं है। वह 'अवेकनिंग' इसलिए है कि 'पूर्व निश्चित रूप से पश्चिमी रास्ते पर चल पड़ा है'। यह है पश्चिम जैसे 'बोर्ज़ा-डेमॉक्रेटिक नैशनल मूवमेंट्स' का रास्ता। लेकिन, इस पश्चिमी रास्ते के चुनाव की चालक-शक्ति उसके भीतर निहित नहीं है, बल्कि वह तो 1905 की रूसी क्रांति और 'विश्व पूँजीवाद' द्वारा 'सभ्यता की कक्षा' में धकेला गया है। जहाँ तक 'स्टेज' का सवाल है, पूर्व के पूँजीवादी-जनतांत्रिक आंदोलन पश्चिम से एक मंज़िल पीछे हैं। वहाँ जो उभर चुका है, वह यहाँ उदीयमान है।

इस विश्लेषण से ज़ाहिर है कि लेनिन ने पूर्व को मार्क्सवाद के दायरे और प्रकारांतर से मार्क्स को पूर्व के दायरे में जगह तो दिला दी, लेकिन इसके पीछे एशिया की अपनी विशेषताओं की समझ न के बराबर ही थी। चूँकि पूर्व पश्चिमी कोलोनियलिज़म के खिलाफ़ युरोपीय ज्ञानमीमांसा द्वारा दी गई शिक्षा का अनुपालन करते हुए पश्चिमी तर्ज का संघर्ष चलाने की स्थिति में आ गया था, इसलिए उसे विश्व सर्वहारा संघर्ष के अंग की तरह देखा जा सकता था। इस तरह के एशियायी मार्क्सवाद का एक ही परिणाम हो सकता था। वह अपने-अपने तरीके से राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में भागीदारी करता हुआ, कहीं-कहीं उनका नेतृत्व भी करता हुआ, उपनिवेशकों से सत्ता छीनने का कार्यभार सम्पन्न कर सकता था। लेकिन, उसकी सीमा स्पष्ट थी। अपने सबसे चमकदार उपनिवेशवादीविरोधी क्षणों में वह ज़्यादा से ज़्यादा 'डिकोलोनाइज़ेशन' की मंज़िल तक ही जा सकता था। अंततः लेनिन का मार्क्सवाद भी पश्चिम का ही अभिकर्ता था, क्योंकि न उसमें एशियायी सभ्यताओं-संस्कृतियों के प्रति कोई चेतना थी, और न ही उपनिवेशवाद के पहले की एशियायी ज्ञानमीमांसाओं के प्रति उसमें कोई दिलचस्पी थी। लेनिन का मार्क्सवाद भी एशिया को युरोपीय सभ्यता की अनुकृति बनते देखना चाहता था। उसमें 'डिकोलोनियलिटी' की मंज़िल तक पहुँचने की सामान्य इच्छा का भी अभाव था।

ज़ाहिर है कि एक समग्र विमर्श के तौर पर 'डिकोलोनियलिटी' का मार्क्स से संबंध स्थापित करना मुश्किल ही है। हम देख चुके हैं कि उनका शास्त्र किस तरह ज्ञानोदय की वैचारिकी की उपज था, और वे पूर्वी समाजों और सभ्यताओं को प्रगति और क्रांति की अपनी संभावनाओं के अनुकूल नहीं मानते थे। आज हम जानते हैं कि उपनिवेशवाद का मकसद केवल आर्थिक शोषण करने के लिए राजनीतिक सत्ता पर क़ब्ज़ा करना नहीं था। उपनिवेशवाद एक सांभ्यतिक परियोजना भी थी जिसके बौद्धिक, नैतिक और ज्ञानमीमांसात्मक पहलू थे। इसकी तसदीक़ स्वयं मार्क्स द्वारा विरोधात्मक नहीं बल्कि समर्थनकारी शब्दों में की गई है। स्पष्ट रूप से मार्क्स को 'डिकोलोनियल' बनाने की कोशिश एक कभी न खत्म होने वाले विरोधाभास में फँसने के खतरे की तरफ़ ले जाती है। डर यह भी है कि ऐसी कोशिशें अंततः एक तरह की बौद्धिक तिकड़म जैसी न लगने लगे।

## मार्क्सवाद का युरोकेंद्रित चेहरा और रामविलास शर्मा की 'प्रक्षालन' युक्तियाँ

इससे पहले कि हम रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद संबंधी उद्यम पर विचार करें, भारतीय मार्क्सवादियों के बीच युरोकेंद्रीयता की अभिव्यक्तियों पर एक नज़र डाल लेना उचित होगा। ये अभिव्यक्तियाँ संस्थागत मार्क्सवादियों (राजनेता समेत) में भी मिलती हैं, और उन विद्वानों में भी जो संस्थागत मार्क्सवाद से जुड़े नहीं हैं। इसके दो चेहरे हैं। एक चेहरे की नुमाइंदगी श्रीपाद अमृत डांगे जैसे लोग करते हैं, जो यांत्रिक दृष्टि से भारत में आदिम साम्यवाद से दास प्रथा की मंजिलें देखने पर आमादा थे। यह भारतीय युरोकेंद्रीयता का भौंडा चेहरा था। दूसरा चेहरा परिष्कृत क्रिस्म का है जिसमें युरोकेंद्रीयता से संघर्ष की गुंजाइशें भी हैं। इसकी नुमाइंदगी 'मॉडर्न' को 'अर्ली-मॉडर्न' से विभूषित करने वाली परवर्ती विद्वत्ता कर रही थी। इसके तहत मध्ययुग में पूँजीवाद के शुरुआती रूपों की ऐतिहासिक शिनाख्त करने को एक 'नयी बात' की तरह समझा जाने लगा था। 'हमारे पास आधुनिकता लायक परिस्थितियाँ पहले से ही मौजूद थीं'— औपनिवेशिक आधुनिकता की यह आलोचना रैडिकल मान ली गई थी।

जैक गोल्डस्टोन ने इस प्रवृत्ति को कड़ाई से आड़े हाथों लेते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास को चरणबद्ध ढंग से दिखाने की मार्क्सवादी थियरी प्रमाणित करने की नयी कोशिश है। चूँकि सामंतवाद और औद्योगिक पूँजीवाद के बीच अंतराल को पाटना था इसलिए व्यापारिक पूँजी की मदद ली गयी, उसके जरिये एक ग़ैर-सामंती 'मोड ऑफ़ प्रोडक्शन' दिखाया गया, ताकि इतिहास की चालक शक्ति बेखटके उत्पादक शक्तियों के विकास के सुपर्द की जा सके। गोल्डस्टोन यह भी कहते हैं कि दरअसल यह पश्चिमी इतिहास की श्रेणियों को पूर्व के समाजों पर आरोपित करने की ही एक युक्ति है।<sup>33</sup> भारत के संदर्भ में प्रथमा बनर्जी का कहना है कि अर्ली-मॉडर्न श्रेणी का इस्तेमाल करने से भारत में विकसित हुई विचार-प्रक्रिया और इतिहास पर बेवजह ही आधुनिकता का रुतबा ग़ालिब हो जाता है। प्रथमा आधुनिक को अंतहीन और कालातीत बनाने के ख़िलाफ़ हैं; और चाहती हैं कि आज की श्रेणियों में फँसने से इनकार करने वाले अतीत के साथ हमारी समकालीनता के संबंधों को खुला रखा जाए।<sup>34</sup>

ये बातें कहना इसलिए ज़रूरी है कि मैंने स्वयं अपने एक लेख में रामविलास शर्मा को 'हिंदी का अर्ली-मॉडर्न' बताया था। वहाँ मेरा कहना यह था कि रामविलास शर्मा में 'अर्ली-मॉडर्न' के 'अर्ली-सिम्टम्स' दिखते हैं। हम इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते कि जिस समय रामविलास शर्मा मध्ययुगीन भक्तिकाल में व्यापारिक पूँजी की खोज करके औद्योगिक पूँजी के विकास के बिना भारत में पूँजीवाद कल्पित करने की कोशिश कर रहे थे (साठ और सत्तर के दशक में), उस समय तक इतिहासकारों द्वारा की गई 'अर्ली-मॉडर्न' की खोज भविष्य के गर्भ में थी।<sup>35</sup> दूसरे, गोल्डस्टोन और प्रथमा की सही आलोचना के बावजूद हम 'अर्ली-मॉडर्न' इतिहासकारों की इस उपलब्धि को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते जिसके तहत उन्होंने प्राच्यवादी विद्वत्ता के विपरीत भारतीय मध्ययुग (पंद्रहवीं से सत्रहवीं सदी) को सांस्कृतिक उत्पादन से समृद्ध (भक्तिकालीन कविता जिसका मूल्यवर्धन रामविलास शर्मा ने 'लोकजागरण के युग' के तौर पर किया है) और व्यापारिक पूँजी और उद्यमशीलता से सम्पन्न दिखाने के अकाट्य प्रमाण पेश किये हैं।<sup>36</sup>



जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस लेख में मैं रामविलास शर्मा के उद्यम को 'अर्ली-मॉडर्न' से परे जा कर देखना 'डिकोलोनियलिटी' के विमर्शाई आइने में देखना चाहता हूँ। मैं यहाँ समाजशास्त्री पूरन चंद्र जोशी के एक कथन का

<sup>33</sup> जैक ए., गोल्डस्टोन (1998), 'द प्रॉब्लम ऑफ़ 'अर्ली मॉडर्न' वर्ल्ड', *जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएंट*, खण्ड 41, अंक 3 : 249-284.

<sup>34</sup> प्रथमा बनर्जी (2012), 'द मॉडर्न ऐंड अर्ली मॉडर्न : थॉट्स ऑन टाइम, पीरियोडिसिटी ऐंड टेम्पोरल हेटरोडॉक्सीज', अप्रकाशित आलेख, सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

<sup>35</sup> अभय कुमार दुबे (2013), पूर्वोद्धृत.

<sup>36</sup> उदाहरण के लिए देखें, एफ. जॉन रिचर्ड्स (1997), 'अर्ली मॉडर्न इण्डिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, खण्ड 8, अंक 2, युनिवर्सिटी ऑफ़ हवाई प्रेस : 197-209. इस संदर्भ में इरफ़ान हबीब की एक रचना भी उल्लेखनीय है, इरफ़ान हबीब (1969), 'पोटेंशियलिटीज़ ऑफ़ कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट इन द इकॉनॉमी ऑफ़ मुग़ल इण्डिया', *द जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक हिस्ट्री*, खण्ड 29, अंक 1, द टास्क ऑफ़ इकॉनॉमिक हिस्ट्री, मार्च : 32-78.

उल्लेख करूँगा जिसमें 'डिकोलोनियलिटी' की शब्दावली का इस्तेमाल किये बिना कहा गया है कि रामविलास शर्मा औपनिवेशिक मानसिकता को सुदृढ़ करने वाले ज्ञान की संरचना के खिलाफ़ जद्दोजहद कर रहे थे। इस कथन की खास बात यह है कि पी.सी. जोशी ने इसमें रामविलास शर्मा के साथ-साथ राहुल सांकृत्यायन को भी जोड़ दिया है, बिना इस बात की परवाह किये कि इन दोनों हस्तियों के बीच मुखर बौद्धिक मतभेद थे—

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीयों के दिल और दिमाग पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए भारतीय परम्परा और इतिहास, भारत के धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों, अर्थतंत्र और समाज-व्यवस्था, संस्कृति और सभ्यता, वैज्ञानिक खोज और वैज्ञानिक विरासत यानी ज्ञान की समस्त आंतरिक संरचना को औपनिवेशिक मानसिकता को सुदृढ़ करने वाली व्याख्या प्रस्तुत की थी जिसका उद्देश्य भारतीयों को मौलिक अवदान के लिए अक्षम सिद्ध करना तथा उनके आत्मविश्वास और स्वाभिमान का विखंडन करना था। ऐसी स्थिति में स्वराज की लड़ाई केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी, बल्कि औपनिवेशिक व्यवस्था के वास्तविक आधारों और स्तम्भों को चुनौती देने वाली लड़ाई बनाने के लिए उसे परम्परा इतिहास, धर्म, सामाजिक चिंतन, आर्थिक अवधारणा और सिद्धांत, विज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, समालोचना आदि जीवन के सभी क्षेत्रों और विशेषकर मानसिक और आत्मिक धरातल पर सशक्त संघर्ष में बदलना अनिवार्य था। ... हिंदी भाषा और हिंदी प्रदेश का यह सौभाग्य है कि उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और रामविलास शर्मा के रूप में दो ऐसे बौद्धिक विस्तार और गहराई के साथ बहुआयामी प्रतिभा वाले बुद्धिजीवी पैदा किये ... ये दोनों व्यक्ति बहुआयामी प्रतिभा, क्षमता, सर्जनात्मकता और कृतित्व के साहित्यकार, आलोचक और विचारक थे जिन्होंने साहित्य समालोचना, सौंदर्यशास्त्र, पुरातत्व, इतिहास, धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दर्शन, पारम्परिक और आधुनिक सामाजिक चिंतन, भाषाशास्त्र, सभ्यता और संस्कृति के गहन अन्वेषण-अध्ययन, मनन आदि अनेक क्षेत्रों को अपनी मौलिक और रचनात्मक समीक्षा से समृद्ध किया। यह भी उल्लेखनीय है कि उनका कृतित्व अकादमिक मानकों की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी केवल अकादमिक जिज्ञासा और सरोकारों से प्रेरित नहीं था।<sup>37</sup>

निस्संदेह यहाँ पूरन चंद्र जोशी उसी 'एपिस्टेमिक रिकांस्टीट्यूशन' के प्रोजेक्ट पर उँगली रख रहे हैं जिस पर 'डिकोलोनियलिटी' वाली विद्वत्संडली अपना पहला जोर देती है। जाहिर है कि ऐसा प्रयास अधोषित और अचेत ही हो सकता था, क्योंकि इसका सूत्रपात एक ऐसे समय में किया गया था जब मार्क्सवादी दायरों में ही नहीं, गैर-मार्क्सवादी दायरों में भी ऐसा करने का बौद्धिक चलन नहीं था। रामविलास शर्मा मार्क्सवादी दायरों में जिस तरह की जद्दोजहद चला रहे थे, उसमें मार्क्सवाद की पैरोकारी करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के बुद्धिजीवी राजनेताओं की दावेदारियों का खंडन शामिल था। उन्होंने पार्टी से संबंधित लेखकों-साहित्यकारों की उन मान्यताओं का मुखर प्रतिकार किया जो मार्क्सवाद का सहारा लेकर आधुनिक विश्व में भारत के पिछड़ेपन का ठीकरा भारतीय परम्परा और अतीत की खामियों पर फोड़ते थे। रामविलास शर्मा बार-बार कहते रहे कि इन लोगों के पास न तो मार्क्सवाद का अध्ययन है, न ही प्राचीन साहित्य का। इस उद्यम की उन्हें पहली क्रीमत यह चुकानी पड़ी कि उन्हें अपने बुनियादी अनुशासन, जो रचनात्मक साहित्य का था, का अतिक्रमण करना पड़ा। बजाय इसके कि वे कहानी, उपन्यास, कविता, कला और सौंदर्यशास्त्र पर लिखते, उन्हें इतिहास, दर्शन और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ा। एक जगह उन्होंने कहा भी है कि यह अतिक्रमण करके उन्होंने अपने मित्रों, प्रशंसकों और पाठकों को निराश किया है—

1947 में हमारे यहाँ जो सत्ता का हस्तांतरण हुआ, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, इन बातों पर विस्तार से लिखने की ज़रूरत थी। उसके लिए समय निकालना ज़रूरी था, और मैं जिस समय यह काम कर रहा था, मेरे तमाम दोस्त, तमाम नहीं अधिकांश, दोस्तों ने कहा : तुमने समकालीन कहानी पर क्यों नहीं लिखा, तुमने उपन्यासों पर क्यों नहीं लिखा, तुमने समकालीन कविता पर क्यों नहीं लिखा, हम पढ़ें या न पढ़ें, लेकिन मेरी राय जानने के लिए वे मेरी नाक में दम किये हुए थे। मेरा कहना यह है कि जिन कारणों से यहाँ के कम्युनिस्ट आंदोलन में विघटन हुआ है, उनको जानना बहुत ज़रूरी है। यह बहुत बड़ी सामाजिक आवश्यकता है, इसके लिए मार्क्सवाद का ज्ञान, भारतीय इतिहास का ज्ञान, पुराना इतिहास, उससे अधिक नया इतिहास, इनका ज्ञान बहुत ज़रूरी है। इसके बिना जो तुम समझोगे, करोगे या एकता कामय करने की कोशिश करोगे, वह अस्थायी होगा।<sup>38</sup>

<sup>37</sup> पूरन चंद्र जोशी (2001), पूर्वोद्धृत.

<sup>38</sup> देखें, रामविलास शर्मा से नलिनी उपाध्याय की बातचीत (जनवरी-जून, 1983 में *मधुमाधवी* में प्रकाशित), 'आलोचना और प्रगतिशील साहित्य', मेरे साक्षात्कार (1994), किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली : 33.

दूसरी क्रीमत उन्होंने यह चुकाई कि साहित्यशास्त्री होने और हिंदी में लिखने के कारण समाज-विज्ञान की दुनिया में उनके काम का महत्त्व नहीं समझा गया। उनकी रचनाएँ इस दुनिया से बाहर हिंदी साहित्य और सामाजिक आलोचना के संसार में ही सीमित रह गईं। आज भी स्थिति यह है कि अगर समाज-विज्ञान में रामविलास शर्मा के किसी उद्धरण का इस्तेमाल करके अपनी बात प्रमाणित करने कोशिश की जाए तो तुरंत इस तरह की फ़र्बती का सामना करना पड़ता है कि वे भला कौन से इतिहासकार या भाषाविज्ञानी थे। इस तरह की टिप्पणियों की अंतर्निहित संकीर्णता को नज़रअंदाज़ करके हिंदी के इस शलाका-पुरुष के बौद्धिक अवदान पर विचार करना आवश्यक है। स्वयं रामविलास शर्मा स्वयं को उन रूसी और फ़्रांसीसी साहित्यालोचकों की श्रेणी में मानते थे जिनके लेखन ने तत्कालीन राजनीतिक विचार को गहराई से प्रभावित किया था। वे अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक जगत में चलने वाली धाराओं से अप्रभावित (एक हद तक अपरिचित भी) रहा करते थे। उन्हें विश्वविद्यालयीय समाज-विज्ञान या उसके द्वारा स्थापित अनुसंधान और लेखन-पद्धति के नक्शेकदम पर चलने में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। इसका एक फ़ायदा यह होता था कि वे अपने स्वतंत्र चिंतन के चलते कई बार ऐसी प्रस्थापनाएँ कर जाते थे जो विश्वविद्यालयीय समाज-विज्ञान की दुनिया में काफ़ी आगे चल कर दिखाई पड़ती थीं।

भारतीय संदर्भ में मार्क्सवाद की पुनर्रचना के उद्यमी के रूप में रामविलास शर्मा को देखने वाला पहला व्यक्ति मैं ही नहीं हूँ। प्रणय कृष्ण ने उनका अध्ययन करते हुए कुछ ऐसे अवलोकन किये हैं जिनसे इस बौद्धिक प्रोजेक्ट पर रोशनी पड़ती है—

मार्क्सवाद के स्रोतों में मुख्यतः क्लासिकीय जर्मन दर्शन, फ़्रांसीसी समाजवाद और ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र की चर्चा होती है, लेकिन समग्र मानव-मुक्ति के दर्शन के रूप में उसके सतत विकास के लिए यह आवश्यक है कि पूरब की बौद्धिक विरासत का अनुसंधान कर उसे सतत विकासशील मार्क्सवादी विचार-सरणी के वैध स्रोत के रूप में उसे स्थापित किया जाए। रामविलासजी ने *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* शीर्षक पुस्तक में क्लासिकीय मार्क्सवाद के स्रोतों में पूरब की बौद्धिक विरासत के योगदान को रेखांकित करने की पुरजोर कोशिश की है। मैं नहीं कह सकता कि उस पुस्तक से मार्क्स और एंगेल्स के विचारों पर 'युरोकेंद्रिक' होने के आरोपों का किस हद तक परिहार होता है ...<sup>39</sup>

रामविलास शर्मा द्वारा मार्क्सवादी दायरे में चलाया जाने वाला संघर्ष दरअसल था क्या? स्वयं उनके ही शब्दों में इसकी एक बानगी देखी जा सकती है—

मैं कहूँगा, वह (1857 का विद्रोह) आजादी की लड़ाई थी; वे कहेंगे, वह लड़ाई सामंतों ने अपने हित में लड़ी थी। मैं कहूँगा, अंग्रेज़ी राज में भारत का देहातीकरण हुआ; वे कहेंगे, अंग्रेज़ी राज में भारत का उद्योगीकरण हुआ। मैं कहूँगा, भारत के नवजागरण पर सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम का प्रभाव है; वे कहेंगे, उस संग्राम से इस जागरण को कुछ लेना-देना नहीं है। मैं कहूँगा, भारत में अंग्रेज़ी राज क्रायम होने से पहले यहाँ तमिल, बंगाली, हिंदी, मराठी आदि जातियों का निर्माण हुआ; वे कहेंगे, यह निर्माण नहीं हुआ और कुछ निर्माण हुआ तो अंग्रेज़ी राज में हुआ। मैं कहूँगा, भारत बहुजातीय राष्ट्र है; वे कहेंगे, भारत में अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं और वे सब एक-दूसरे से अलग-थलग हैं। मैं कहूँगा, तमिल, बंगाली जातियों की तरह हिंदी जाति भी एक है; वे कहेंगे, हिंदी जाति की बात करना अंधराष्ट्रवाद है।<sup>40</sup>

यह दिलचस्प कथन बताता है कि रामविलास शर्मा और भारत के प्रचलित मार्क्सवादी, प्रगतिशील, वामपंथी और उदारतावादी विमर्श (इसे मैंने अन्यत्र मध्यमार्गी विमर्श की समेकित संज्ञा दी है) के बीच ज़्यादा कुछ समान नहीं था। मसलन, वामपंथी विमर्श जाति या राष्ट्रीयता को एक ही चीज़ मानता है, पर रामविलास शर्मा का कहना था कि जाति व्यापारिक पूँजी के चरण में ही बन जाती है और राष्ट्रीयता औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के उभार के साथ उभरती है। यानी रामविलास शर्मा के खाते में जाति राष्ट्रीयता से पहले आती है। वामपंथी बुद्धिजीवी गंगा-जमुनी संस्कृति का गुणगान करते नहीं थकते, पर उर्दू-हिंदी साहित्य की एकताबद्ध परम्परा की ज़बरदस्त पैरोकारी करने के बावजूद रामविलास शर्मा ने इस धारणा को दरबारी क्रिस्म की उर्दू लिखने वालों का सूत्रीकरण करार दिया। मार्क्सवादियों द्वारा बहुप्रशंसित डी.डी.

<sup>39</sup> देखें, प्रणय कृष्ण (2012), 'उपनिवेशवाद/साम्राज्यवाद कभी भी प्रगतिशील नहीं होता (रामविलास शर्मा को याद करते हुए)', *उद्भावना*, पूर्वोद्धृत : 111-130.

<sup>40</sup> जुलाई, 1988 में *वर्तमान साहित्य* के लिए हरिनारायण मिश्र से बातचीत करते हुए रामविलास शर्मा का कथन, *मेरे साक्षात्कार* (2011), पूर्वोद्धृत : 119.

कोसम्बी, रोमिला थापर और रामशरण शर्मा जैसे प्राचीन भारत के इतिहासकारों का कहना है कि आर्य बाहर से आये थे, पर रामविलास शर्मा को 1956 में ही आर्यों के आक्रमण की थीसिस पर शक हो गया था। बाद में वे साफ़ तौर से इसके खिल्लाफ़ होते चले गये। सभी लोग जिसे सामंतशाही के प्रभुत्व वाला भारतीय मध्ययुग कहते हैं, रामविलास शर्मा ने उसे 'सामंतशाही के खोल' में विकसित होती हुई व्यापारिक पूँजी के उभार के रूप में देख कर पश्चिमी और औपनिवेशिक प्रभाव के आगमन के पहले की आधुनिकता के संकेतों की तरह पेश किया। जिस भक्ति-साहित्य को निर्गुण और सगुण के बीच बाँट कर देखा जाता है, उसे उन्होंने प्रेममार्ग के एकल शीर्षक के तहत रखते हुए अखिल भारतीय लोकजागरण के रूप में प्रस्तुत किया। यह लोकजागरण उनकी निगाह में उन्नीसवीं सदी में हुए हिंदी नवजागरण की पूर्वपीठिका है। हिंदी का मार्क्सवादी चिंतन भारतीय परम्परा के जिन आयामों को पिछड़ा, दकियानूसी और ब्राह्मणवादी कह कर खारिज करता है, रामविलास शर्मा ने उन्हीं आयामों में से भौतिकवाद और प्रगतिशीलता के पहलू निकाल-निकाल कर दिखाने में अपना पूरा जीवन खर्च कर दिया। कभी लांछन के रूप में तो कभी उपाधि के रूप में जिन रामविलास शर्मा को 'कट्टर मार्क्सवादी' कहा गया, वे भारतीय समाज को जड़ और परिवर्तनरोधी करार देने वाली मार्क्स की भारत संबंधी रचनाएँ खारिज करते हुए साफ़ कहते हैं कि वे ज़रूरत पड़ने पर मार्क्स को संशोधित करने से भी नहीं चूँकेंगे। ध्यान रहे कि रामविलास शर्मा ने एक पार्टी की हुकमशाही और सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया था।



'डिकोलोनियलिटी' और रामविलासीय विमर्श के बीच संबंधों के दो पहलू हो सकते हैं। पहला, अगर रामविलास शर्मा का प्रयास मार्क्स और उनके वाद को युरोकेंद्रीयता से बचा कर एक अलग तरह के भारतोपयोगी संस्करण के रूप में पेश करना था, तो उनके इस अनूठे प्रोजेक्ट के नतीजे क्या निकले? दूसरा, मार्क्स को युरोकेंद्रीयता से वे मुक्त कर पाए हों या नहीं, लेकिन भारतीय अतीत और वर्तमान के युरोकेंद्रित विवरणों और निष्कर्षों से उनके टकराव का मर्म कहाँ स्थित है, और इस संघर्ष के परिणाम क्या हुए?

मार्क्स और युरोकेंद्रीयता के आपसी संबंध के ऊपर दिये गए संक्षिप्त विवरण से जाहिर है कि मार्क्सवाद में परम्परा और उपनिवेशवाद की आलोचना की भाषा या मुहावरा मुहैया कराने के तत्त्व खोजने का प्रयास कुछ विशेष सकारात्मक परिणाम देने वाला नहीं है। जाहिरा तौर पर मार्क्सवाद विरोधियों ने नहीं, बल्कि मार्क्सवादी विद्वानों ने ही मार्क्स के युरोकेंद्रित पहलुओं को खोज-खोज कर हमारे सामने रखा है। शायद उनका चिंतन यह रहा होगा कि अगर बिना किसी लाग-लपेट के ऐसा कर दिया जाए तो शायद पूर्व-उपनिवेशितों के बीच मार्क्सवाद से मोहभंग के अंदेशों को टाला जा सकता है, और जिन वैचारिक निर्मितियों और प्रवृत्तियों पर मार्क्स ने ध्यान नहीं दिया, उनके संदर्भ में मार्क्सवादी सिद्धांतकीकरण को वैधता मिल सकती है। मेरा विचार है कि इसी से मिलती-जुलती चिंताएँ रामविलास शर्मा को भी रही होंगी। उन्होंने मार्क्स की मुखर युरोकेंद्रीयता पर भारत के संदर्भ में एक कटाक्ष अवश्य किया ('भारत के संबंध में डायलेक्टिस कहाँ चली जाती है?'), लेकिन आम तौर पर एक निष्ठावान मार्क्सवादी की मुद्रा अखिलियार किये रखी। वे यह दावा करते रहे कि 'जो दर्शन, जो विज्ञान इस जनता (पिछड़े हुए देशों की) को अपनी आजादी के लिए लड़ना सिखाता है, अपने पिछड़ेपन से निकल कर नये जीवन का निर्माण करना सिखाता है, उसका नाम मार्क्सवाद है।'<sup>41</sup>

मेरा अध्ययन बताता है कि रामविलास शर्मा की बौद्धिक रणनीति डेविस और बील की तरह मार्क्स की युरोकेंद्रीयता को उघाड़ने की नहीं है। इसके उलट वे मार्क्स पर युरोकेंद्रीयता के आरोप को मोटे तौर पर स्वीकार करने से बचते हैं। वे मार्क्स की रचनाओं में से वे वाक्यांश खोज निकालते हैं जिन्हें पढ़ कर ऐसा लगता है कि मार्क्स के पास भारत के बारे में कहने के लिए कुछ सकारात्मक बातें भी थीं। इस प्रकार मार्क्स और भारत के संबंधों को हमदर्द लहजे

<sup>41</sup> देखें, रामविलास शर्मा (1986), *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 2. लेख के इस हिस्से के रामविलास शर्मा से संबंधित अधिकतर उद्धरण उनकी इसी रचना से लिए गए हैं (जब तक नयी पाद-टिप्पणी न हो)।

में पेश करने के बाद वे एक पूरा शास्त्र रचते हुए दिखाई पड़ते हैं, ताकि केवल भारत ही नहीं बल्कि दुनिया भर के पिछड़े हुए समाजों के साथ मार्क्सवाद का सकारात्मक रिश्ता कायम होता दिख सके। वे बार-बार कहते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन को समग्र दृष्टि से ग्रहण करने की ज़रूरत है। यह अलग बात है कि एक-दो बातों को छोड़ कर इस 'समग्रता' से वे पहलू ज़्यादातर गायब हैं जिनका डेविस और बील ने जिक्र किया है। जो भी हो, रामविलास शर्मा के इस विशद बौद्धिक पराक्रम को संक्षेप में पेश करने के लिए मैंने उसका सूत्रीकरण उनके द्वारा अपनायी गई चार युक्तियों के रूप में किया है।

उनकी पहली और अत्यंत सुरक्षित युक्ति है मार्क्स की युरोकेंद्रीयता का ठीकरा हिगेल के दरवाजे पर फोड़ देना। हिगेल के चिंतन के नस्लवादी, भौगोलिक नियतिवादी, युरोकेंद्रित और एशिया विरोधी पहलुओं को रेखांकित किया जा चुका है। रामविलास शर्मा ने 1986 में प्रकाशित अपनी कृति *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* के 45 पृष्ठ लम्बे पाँचवें अध्याय में हिगेल के विमर्श के इन पहलुओं को विस्तार से प्रस्तुत किया है। साथ ही वे यह भी बखूबी दिखाते हैं कि किस प्रकार मार्क्स का द्वंद्ववाद और इतिहास-दर्शन अनेकांतवादी या बहुपक्षीय है, और हिगेल का एकांतवादी या एकपक्षीय या मेटाफिज़िकल था। यानी, मार्क्स ने हिगेल से इतिहास-दर्शन प्राप्त किया, लेकिन अपने अनेकांतवाद के ज़रिये उसे रैडिकलाइज़्ड कर दिखाया। साथ में रामविलास शर्मा मासूमियत के साथ यह भी मान लेते हैं कि हिगेल के भारत विरोधी निष्कर्षों का मार्क्स पर असर है। अब, यह समझ से बाहर है कि जब मार्क्स हिगेल के भाववाद से लड़ सकते थे, उससे छुटकारा पा सकते थे, तो हिगेल के भारत-विरोध से क्यों नहीं लड़ सकते थे? एक गलत बात से छुटकारा प्राप्त करने, और दूसरी गलत बात से न केवल प्रभावित हो जाने, बल्कि उसके आधार पर अपनी मान्यताएँ भी बनाने की गति मार्क्स को क्यों प्राप्त हुई— इसका कोई उत्तर रामविलास शर्मा के पास नहीं है। मार्क्स की युरोकेंद्रीयता के ऊपर दिये गये विवरण में दिखाया गया है कि दोनों तरह से (पहले पूँजीवादी मंज़िल हासिल करने की पूर्वशर्त हो, या बाद में प्रतिपादित ग्रामीण समाज के ज़रिये एशियायी समाजों के पुनरुत्थान की उम्मीद हो) विश्व-इतिहास के क्षितिज पर एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के दोबारा उभरने का मार्क्सिय प्रारूप किसी भी तरह से एशियायी या अफ्रीकी नहीं था। मार्क्स की निगाह में सारी दुनिया का प्रारब्ध केवल और केवल पश्चिमी युरोप ही था। तुर्की के विद्वान लुत्फ़ी सुनार मार्क्स और वेबर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए विस्तार से दिखा चुके हैं कि पूँजीवाद के आकलन के मामले में समाजशास्त्र के धरातल पर इन दोनों में जो भी होड़ हो, भारत समेत सभी पूरबी समाजों के बारे में दोनों ही तक्ररीबन एक ही तरह की तिरस्कारपूर्ण राय रखते थे। मार्क्स वर्ग-संघर्ष के हवाले से केवल पश्चिम को ही विकास और प्रगति की ऐतिहासिक शक्तियों से सम्पन्न मानते थे, और वेबर पश्चिम की 'रैशनलिटी' और 'एफ़िशिएंसी' के आईने में उसकी प्रगति का अक्स देखने में लगे हुए थे। इसके ठीक विपरीत, उन दोनों की निगाह में पूर्व के पास न तो इतिहास की चालक-शक्ति थी, न ही तर्कपरकता और न सक्षमता।<sup>42</sup>

युरोकेंद्रीयता के कलंक से मार्क्सवाद को बचाने की दूसरी रामविलासीय युक्ति पर नज़र डालते ही लगने लगता है कि जैसे वे मार्क्स के क्रांतिकारी नायकत्व को बचाने के लिए एक के बाद एक खलनायकों की खोज कर रहे थे। अगर हिगेल पहले खलनायक थे, तो उन्होंने त्राँत्स्की को दूसरे खलनायक के रूप में पेश किया। लेनिनवादी हल्कों में त्राँत्स्की के विचार को आम तौर पर एक विचलन के रूप में पेश किया जाता है। लेकिन, मार्क्स द्वारा प्रतिपादित एशियायी उत्पादन पद्धति के भारत विरोधी निरूपण को त्राँत्स्की के खाते में डालने की तरकीब शायद रामविलास शर्मा ही पहली बार आजमाते हुए दिखते हैं। वे लिखते हैं कि एशियायी उत्पादन पद्धति को आदिम साम्यवाद से अलग करके उसे भारतीय समाज के खाँचे में फ़िट करना 'त्राँत्स्कीवादियों का ख़ास अस्त्र है, उसका उपयोग वे भारत पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व को जायज़ ठहराने के लिए करते हैं।' यहाँ रामविलास शर्मा दिखाते हैं कि 'मार्क्स ने जब उत्पादन की एशियायी पद्धति की

<sup>42</sup> लुत्फ़ी सुनार (2014), *मार्क्स एंड वेबर ऑन ओरिएंटल सोसाइटीज़ : इन दो शैडो ऑफ़ वेस्टर्न मॉडर्निटी*, एशगेट पब्लिशिंग, सेरे.



बात कही थी, तब उन्होंने उसे एशिया के अलावा युरोप, और पूर्वी युरोप के अलावा पश्चिमी युरोप में भी, एक समय लागू माना था। यह त्राँत्स्कीवाद की खूबी है कि उसने उसे एशिया तक सीमित कर दिया, और पूर्वी युरोप को अर्धएशियायी कह कर उसे पश्चिमी युरोप से अलग कर दिया।' रामविलासीय विवरण हमें बताता है कि मार्क्स ने जिस उत्पादन पद्धति को एशियायी कहा था वह केवल एशिया तक सीमित नहीं थी। वह तो जर्मन, स्लाव और केल्त कबीलों की उत्पादन पद्धति भी थी जिसे वे अपने साथ पश्चिमी युरोप की तरफ ले गए थे। लेकिन, क्या केवल यह दिखाने से उस विवाद का समाधान हो सकता है जिसके केंद्र में एशियायी मोड ऑफ़ प्रोडक्शन है? क्योंकि, अगर एकबारगी उनकी यह व्याख्या पूरी तरह से मान ली जाए तो भी यह स्पष्ट नहीं होता कि मार्क्स भारत को आदिम साम्यवादी एशियायी उत्पादन पद्धति (सामूहिक उत्पादन और सामूहिक स्वामित्व) से बाहर निकलते देखने की दृष्टि क्यों नहीं बना पाए? त्राँत्स्कीवादी या किसी अन्य क्रिस्म के मार्क्सवादी विद्वानों को जो करना है, वह उन्हें करने दीजिए। जवाब तो इस बात का देना है कि मार्क्स के खाते में भारत एशियायी उत्पादन पद्धति से आगे क्यों नहीं बढ़ पाया। इसलिए कि मार्क्स इस उत्पादन पद्धति को प्राचीन (रोमन) और जर्मनिक (सामंती) उत्पादन पद्धतियों के मुक़ाबले परिवर्तनरोधी मानते थे। युरोप के बाहर सामाजिक गतिशीलता उन्हें आम तौर पर नहीं दिखाई पड़ती थी। यह धारणा उनके दिमाग में इस तरह से जमी हुई थी कि उन्होंने भारतीय समाज में उत्पादन और सम्पत्ति के स्वामित्व के दूसरे रूपों या विकासमान रूपों की पड़ताल करने की कोई ज़रूरत ही नहीं समझी। चूँकि भारत में एक परिवर्तनरोधी उत्पादन पद्धति की शिनाख़्त कर ली गई थी, इसलिए वहाँ के समाज में किसी तरह की गतिशीलता देखने का सवाल ही नहीं उठता था। यह पूछा जा सकता है कि मार्क्स के खाते में एक महाद्वीपीय आकार देश और उसके विराट बहुलतापूर्ण समाज को एक ही उत्पादन पद्धति में क्यों और किस तुफ़ैल में समेट दिया गया?

ज़ाहिर है कि मार्क्स क्रांतिकारी नायकत्व की रक्षा हिगेल और त्राँत्स्की को खलनायक बनाने से नहीं हो सकती। जो भी हो, रामविलास शर्मा के पास इस नायकत्व की रक्षा के लिए एक तीसरी युक्ति भी थी। यह थी मार्क्स को पिछड़े हुए समाजों के नज़दीक ही नहीं, बल्कि उनसे प्रभावित दिखाने की। इसके लिए उन्होंने तकरीबन पाँच सौ पेज की एक पूरी किताब (पूर्वोद्धृत) ही लिख डाली। पठनीय और तर्कपूर्ण प्रतीत होने वाली इस किताब में ही ऊपर बताई गई दोनों युक्तियाँ इस्तेमाल की गई हैं। उनकी यह तीसरी युक्ति सर्वाधिक संश्लिष्ट और प्रभावी लगती है। मार्क्सवाद को भूत, वर्तमान और भविष्य की सारी समस्याओं का हल मानने के इच्छुक भारतीय मार्क्सवादियों को तो यह युक्ति चमत्कारिक भी लग सकती है। इस पर विस्तार से विचार करने की ज़रूरत है। कारण यह कि यहाँ रामविलास शर्मा एक विकट दुस्साहस करते नज़र आते हैं। यह साफ़ दिखाई देता है कि वे युरोपीय द्वंद्ववाद और भौतिकवाद के साथ-साथ मार्क्स को इस तर्क के आधार पर एशियायी दर्शनों (खासकर भारत के) से भी जोड़ना चाहते हैं कि मार्क्स जिस यूनान के दर्शन से प्रभावित थे वह उसके एशियायी हिस्से में पनपा था, और कुल मिला कर वह यूनान एक एशियायी समाज ही था। इस तरह रामविलास शर्मा लेनिन के उस कथन में एक संशोधन पेश करते हुए दिखाई देते हैं जिसमें कहा गया था कि मार्क्सवाद मुख्य रूप से जर्मन दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद और ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र पर आधारित है। यह रामविलासीय उद्यम माँग करता है कि मार्क्स के विचारों को जर्मन दर्शन के साथ-साथ 'एशियायी यूनान' के दर्शन, कला और संस्कृति पर आधारित भी मानना चाहिए।

प्रश्न यह है कि अगर यूनान के भौगोलिक वजूद को एशियायी मान भी लिया जाए तो क्या हमें यह नहीं पूछना पड़ेगा कि एपीकुरस (जिनके दर्शन पर मार्क्स ने डॉक्टरेट की थी) से लेकर प्लेटो तक फैले हुए हेलेनिक दर्शन को मार्क्स ने एशियायी मान कर ग्रहण किया था या युरोपीय? दूसरा प्रश्न यह है कि स्वयं यूनानी दार्शनिक एशिया के साम्राज्यों, सभ्यताओं और भाषाओं को किस निगाह से देखते थे? वे उन्हें 'बर्बर' मानते थे या 'सभ्य'? और रोम समेत पश्चिमी युरोप ने अपने उपनिवेशों की प्रजा को 'बर्बर' मानने का विचार क्या यूनानियों से ग्रहण नहीं किया था? तीसरा प्रश्न यह है कि यूनानी संस्कृति जब रोमन साम्राज्यवादी वर्चस्व का संयोग पा कर ग्रीको-रोमन संस्कृति बन कर युरोप के

सांस्कृतिक आधार के रूप में उसके रिनैसॉस, उसके एनलाइटेनमेंट और उसके उपनिवेशवाद की चालक-शक्ति बन गई— तो उसने उन 'पिछड़े हुए समाजों' के साथ क्या सुलूक किया जिन्हें रामविलास शर्मा के अनुसार मार्क्स में अपने पुनर्निर्माण की संहिताएँ देखनी चाहिए ?

### रामविलास शर्मा की तीसरी युक्ति बनाम यूनानी दर्शन की युरोपीय कहानी

अपनी पूर्वोद्धृत पुस्तक के दूसरे अध्याय के पाँचवें उपशीर्षक 'यूनान, रोम और एशिया' में रामविलास शर्मा ने विस्तार से यह तीसरी युक्ति संसाधित की है। उनके तर्क का पहला आधार भूगोल है जिसका चरम उसी भौगोलिक नियतिवाद में होता है जिसके लिए उन्होंने हिगेल को आड़े हाथों लिया था। संक्षेप में समझने के लिए कहा जा सकता है कि रामविलास शर्मा के अनुसार वास्तविक, अपेक्षाकृत बड़ा, दार्शनिक, कलाओं और सभ्यता का उद्गम यूनान तो एशिया माइनर या लघु एशिया में था। युरोपीय यूनान तो छोटा सा और सांभ्यतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अहम नहीं था। चूँकि असली यूनान पर तुर्कों ने कब्जा कर लिया, इसलिए विद्वानों ने बचे हुए यूनान को युरोपीय बना दिया। इस दलील से अर्थ निकलता है कि यूनानी दर्शन एशियायी समझा जाना चाहिए, और एशिया का होने के नाते उसे अनुशीलनीय समझा जाना चाहिए। मार्क्स ने या तो यूनानी दर्शन का अध्ययन किया था, या फिर पश्चिम युरोप में पनपे दर्शन का। भारत, चीन या अन्य एशियायी दर्शन का तो उनके लिए अस्तित्व तक नहीं था। ऐसे में उन्हें एशियायी ज्ञान-परम्परा के नज़दीक दिखाने के लिए रामविलास शर्मा ने यूनान की 'एशियायित' को जम कर रेखांकित किया। लेकिन, इस प्रक्रिया में उनसे दो चूकें हुईं। पहली, वे अठारहवीं सदी में युरोपीय विद्वत्ता द्वारा एशिया के वैचारिक 'इतिहास के अपहरण' का वह नियोजित प्रकरण नहीं देख पाए जिसके कारण पश्चिम ग्रीको-रोमन सभ्यता को अपने उद्गम की तरह चित्रित कर पाया। दूसरे, उन्होंने जाने-अनजाने युरोपीय उपनिवेशवाद के बुनियादी दार्शनिक आधार में यूनानियों की भूमिका को अनदेखा करके पृष्ठभूमि में डाल दिया।

दरअसल, मार्क्स के पदचिह्नों पर चलते हुए रामविलास शर्मा जितना दिखाते हैं, यूनानी पुराकथाओं, कला और दर्शन की कहानी उतनी लाल-गुलाबी नहीं है। उनके पूरे विवरण में एक बात जो सिर से गायब है, उसका ताल्लुक रोमनों द्वारा यूनानी सभ्यता और संस्कृति अपनाने की परिघटना से है। ईसा के जन्म से पहले रोमनों ने पहले तो मेडिटेरियन युद्धों के दौरान यूनान को हरा कर विभिन्न यूनानी राज्यों को बेरहमी के साथ आगजनी, हत्या और बलात्कार के दौर से गुज़ारा, लेकिन इसके बाद वे यूनानी भाषा, साहित्य, कला और दर्शन के कायल हो गए। रोमनों ने अपनी भाषा लैटिन राज्यनीति और विधिशास्त्र तक सीमित कर ली। बाद में लैटिन रोमन-कैथोलिक ईसाइयत की भाषा भी बनी। बहरहाल, विजेताओं द्वारा विजितों की संस्कृति के सामने समर्पण की इस अनूठी घटना ने एक मिश्रित संस्कृति को जन्म दिया, जिसे ग्रीको-रोमन संस्कृति के नाम से जाना जाता है।<sup>43</sup> यही ग्रीको-रोमन संस्कृति युरोप के एक बड़े हिस्से को सैकड़ों साल तक अपना उपनिवेश बनाए रखने के दौरान रोमनों द्वारा क्रमशः थमाई गई। युरोपीय श्रेष्ठता का पूरा दम्भ इसी ग्रीको-रोमन आत्मछवि पर टिका है। वस्तुतः रोमनों ने ग्रीस से दुनिया को समझने की जो दृष्टि ग्रहण की, वह यूनानियों की आत्मछवि में निहित असाधारण और विकट एथनोसेंट्रिज़म (स्वजाति-उत्कृष्टता) और उससे निकलने वाली अन्यता से सराबोर थी। इसके दो पहलू थे— ग्रीक मिथक और भिन्न भाषाओं के प्रति यूनानियों का रवैया।

ग्रीक मिथक 'मॉस्टर' समुदायों की चर्चा से भरे हुए हैं। यूनानियों के लिए 'मॉस्टर' का अर्थ संदर्भ के मुताबिक राक्षस, दैत्य, दानवाकार, नरभक्षी, 'वाइल्ड मेन', 'वाइल्ड वुमन', विरूप, असभ्य, या पशुवत था। यूनानियों ने ही बौने लोगों के संसार की 'पिग्मियों' के रूप में कल्पना की। कुत्ते के मुँह वाले लोगों, माथे पर आँख वाले गुफावासी दानव,

<sup>43</sup> रोमन कवि और विद्वान होरेस ने लिखा था, 'ग्रीस, वंस कैप्चर्ड, कैप्चर्ड इट्स वाइल्ड कॉन्क्वैरर, ऐंड इंस्टिड आर्ट्स इनटू बूरिश रोम ...'. विजेता रोमनों द्वारा ग्रीक भाषा, साहित्य, संस्कृति और सौंदर्यप्रियता अपनाने की प्रक्रिया के एक संक्षिप्त वर्णन के लिए देखें, निकोलस ओस्टलर (2005), *एम्पायर्स ऑफ़ द वर्ड : लेंजलवेज हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड*, (विशेष रूप से देखें, अध्याय 'अ रोमन वेल्कम : ग्रीक स्प्रेड थू कल्चर'), हार्पर कोलिस ई-बुक्स.

सीने पर आँखों वाले लोग, विशाल पैरों वाले लोग उन्हीं की कल्पनाशीलता की उपज हैं। ग्रीक-आस्था के मुताबिक राक्षसों की श्रेणी में आने वाले ये प्राणी सामुदायिक जीवन जीते थे, इसलिए अपने सामाजिक-राजनीतिक जीवन को 'डेमाक्रेटिक' मानने वाले यूनानियों के लिए ऐसे सभी 'विकृत' लोगों को अन्य की श्रेणी में स्वाभाविक रूप से डाल दिया जाता था। ग्रीक लेखकों ने दूसरे लोगों और नस्लों को स्वयं से भिन्न दिखाने के लिए 'बरबरता' की कई विशिष्टताएँ चिह्नित कीं, जिन्हें प्लिनी द एल्डर जैसे रोमन लेखकों और इतिहासकारों ने बिना किसी संशोधन के ग्रहण कर लिया।<sup>44</sup>

ईसा के जन्म से पाँच सौ साल पहले यूनानी भाषा के दायरे में बरबरता बनाम सभ्यता के द्विभाजन का बुनियादी सूत्रीकरण हुआ था। ग्रीक भाषा बोलने में अक्षम होने के कारण गैर-यूनानियों के मुँह से जो ध्वनियाँ निकलती थीं, वे यूनानियों को 'बर-बर' जैसी लगती थीं। इसलिए वे हर उस व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्र या संस्कृति को बरबर मानते थे जो उनकी भाषा उनके जैसे उच्चारण में नहीं बोल सकता था। बरबरता से संबंधित सूत्रीकरण की शुरुआत मुख्य तौर पर प्राचीन यूनान के विभिन्न नगर-राज्यों (जैसे, स्पार्टा, एथेंस, मेसीडोन और थेब) और फ़ारस (आज के ईरान) के सम्राट दारा (रामविलास शर्मा की भाषा में दारियुस) और फिर उनके बेटे क्षयार्षा (जेरेक्स) की विशाल सेनाओं के बीच ईसा के जन्म से पाँच सौ साल पहले शुरू हुए और करीब पचास साल तक चले युद्धों (499-449 ई.पू.) के दौरान हुई थी। युद्धों के तुरंत बाद ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस (484-425 ई.पू.) ने इनका वृत्तांत *हिस्टोरिया* नामक पुस्तक में लिखा। यह पुस्तक *पर्सियन वार्स* शीर्षक से मिलती है। हेरोडोटस ने यूनानियों का चित्रण लोकतंत्र और आजादी के प्रेमियों की तरह किया। इस विवरण में दिखाया गया कि यूनानी जीवन अपने 'लोगोज़' यानी दैव द्वारा आदेशित तर्कपरक प्रज्ञा के मुताबिक संचालित होता है। इसके विपरीत हेरोडोटस द्वारा फ़ारस का चित्रण पतनशील भोग-विलास, ढीली नैतिकता, अंधविश्वास, दास-भाव और निरंकुशता के प्रतिनिधि के तौर पर किया गया। हेरोडोटस जिन ईरानियों को खलनायक की तरह चित्रित कर रहे थे, वे कोई जंगलों या ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले नहीं थे। ईरानी सभ्यता अपने शहरी चरित्र और नफ़ासत के लिए जानी जाती थी। इसलिए हेरोडोटस ने उन्हें भाषा के आधार पर बरबर करार दिया। इस तरह ईरानी युरोपीय इतिहास में पहले भाषाई बरबर की तरह दर्ज हो गए। विमर्श के दायरे में बरबर और सभ्य के इस द्विभाजन की अभिव्यक्ति करीब ढाई सौ साल बाद यूनानी दर्शन में होनी शुरू हुई।<sup>45</sup> यह मूलतः भाषा पर आधारित स्वाजित-उत्कृष्टता थी।<sup>46</sup> बाद में इसके साथ श्रेष्ठ नस्ल, श्रेष्ठ सभ्यता, श्रेष्ठ संस्कृति और श्रेष्ठ राष्ट्र के आग्रह नत्थी होते चले गए। यही थी वह 'स्वर्णिम कसौटी' जिसके मुताबिक यूनानी बाक़ी दुनिया का मूल्यांकन करते थे।<sup>47</sup> भीषण क्रिस्म के एथनोसेंट्रिज़म का यह पूरा पैकेज यूनानियों से रोमनों को मिला। ग्रीको-रोमन विचार यह मानने के लिए तैयार नहीं हुआ कि गैर-यूनानियों और गैर-रोमनों के मुँह से निकलने वाली ध्वनियाँ उन लोगों की अपनी भाषा भी हो सकती है। जो ध्वनि ग्रीक और लैटिन नहीं थी, इस विचार के तहत उसे भाषा के तौर पर मान्यता नहीं दी जा सकती थी। इस प्रकार समुचित उच्चारण में ग्रीक न बोल पाने वालों या लैटिन न जानने वालों को असभ्य, जंगली और निकृष्ट मान कर बरबर

<sup>44</sup> देखें, जियाउद्दीन सरदार, आशिस नदी, मेरिल विन डेवीज़ और क्लॉड अलवारिस (1993), *द ब्लाइंड आई : 500 इयर्स ऑफ़ क्रिस्टोफ़र कोलम्बस*, द अदर इंडिया प्रेस, गोवा और द अपेक्स प्रेस, न्यूयार्क.

<sup>45</sup> ज्ञानोदय के दौरान रूसो और मोंतेस्क्यू जैसे कुछ चिंतकों ने यूनानी दर्शन में ही मौजूद कुछ अपवादस्वरूप धारणाओं के आधार पर इस द्विभाजन को चुनौती देने का प्रयास किया। रूसो ने 'सभ्य' को पतनशील और विकृत माना, और 'असभ्य' को प्रकृति के अधिक नज़दीक करार दिया। इस बौद्धिक प्रयास से 'नोबेल सेवेज' के विचार का जन्म हुआ। लेकिन, बरबरता को रोमानी दृष्टिकोण से देखने वाला यह सूत्रीकरण भी अंततः उपनिवेशित 'अन्य' का सौंदर्यीकरण (एस्थेटाइज़ेशन) करने के ज़रिये उपनिवेशवाद के औचित्य-निरूपण का एक नफ़ीस औज़ार बन कर रह गया।

<sup>46</sup> यूनानियों की भाषा-आधारित स्वजाति-उत्कृष्टता के विभिन्न पहलुओं के बारे में विस्तार से पढ़ने के लिए देखें, निकोलस ओस्टलर (2005), *इम्प्रायर्स ऑफ़ द वर्ड : अ लेंग्वेज़ हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड*, हार्पर कोलिंस ई-बुक्स, लंदन और न्यूयार्क (विशेष रूप से देखें, छठा अध्याय 'श्री थाउज़ेंड इयर्स ऑफ़ सोलिप्सिज़म : द एडवेंचर्स ऑफ़ ग्रीक'.

<sup>47</sup> स्वजाति-उत्कृष्टता का रुझान दुनिया की तर्करीबन सभी संस्कृतियों में पाया जाता है। चाहे वे चीनी हों, जापानी हों या मिस्री हों। लेकिन, यूनानी स्वजाति-उत्कृष्टता अपनी उग्रता में अलग तरह की थी। देखें, युरगन ओस्टरहामेल (2018), *अनफ़ेबलिंग द ईस्ट : द एनलाइटेनमेंट्स एनकाउंटर विद एशिया*, अनु. रॉबर्ट सेवेज, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन और ऑक्सफ़र्ड, दूसरे अध्याय का अंश 'थियरीज़ ऑफ़ एथनोसेंट्रिज़म' : 72-75.

और सभ्य का द्विभाजन खड़ा किया गया। बरबरता के विमर्श पर गहरी और विस्तृत निगाह डालने वाली मारिया बोलेट्सी के अनुसार—

बरबरता और सभ्यता परस्पर विरोधी और परस्पर निर्भर अवधारणाएँ हैं। विलोम के रूप में सभ्यता का बाह्य हुए भी बरबर होने का विचार उसके लिए विधेयक है। उसके जरिये सभ्य की श्रेष्ठता पुष्ट होती है। व्युत्पत्ति के लिहाज से देखें तो प्राचीन ग्रीक भाषा का शब्द 'बारबेरियन' उन लोगों की भाषा को बड़बड़ाहट मानने का द्योतक था जो यूनानियों के लिए विदेशी थे। इस तरह इस शब्द में दो निहितार्थ दिखाई देते हैं। यह दूसरे की भाषा को निरर्थक ध्वनि के रूप में सुनने के कारण उसे समझने में असमर्थता का द्योतक है। इसी के साथ यह दूसरे की भाषा को समझने की अनिच्छा भी रेखांकित करता है।<sup>48</sup>

बोलेट्सी का निष्कर्ष है कि इस दुहरे निहितार्थ के कारण बारबेरियन केवल महज एक शब्द नहीं रह गया, बल्कि 'अन्य' के रूप में उसकी संरचना सामूहिक हो गई। चूँकि सभ्यता के दावेदार उस समूह, समुदाय या समाज द्वारा बोले हुए शब्दों को भाषा की मान्यता देने के लिए ही तैयार नहीं थे, इसलिए वह अपनी गढ़त को चुनौती देने की एजेंसी से ही वंचित मान लिया गया। युरोपीय हो या युरो-अमेरिकी विमर्श हो, सभ्यता और बरबरता के अनुघनीय विलोम को पश्चिमी मानस एक सार्वभौम नियम की तरह अपनी चेतना में जड़ करता चला गया। युरोपीय मानस पर अंकित इस सार्वभौम नियम के अनिगनत उदाहरण इक्कीसवीं सदी में भी देखे जा सकते हैं। विशेष तौर पर मनोरंजन की लोकप्रिय संस्कृति के दायरे में। हॉलीवुड द्वारा 2006 में निर्मित फ़िल्म 300 (निर्देशक : जार स्नायडर) और 2014 में निर्मित 300 : राइज़ ऑफ़ एन इम्पायर (निर्देशक : नोआम मुरो) से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यूनानियों और ईरानियों के बीच हुए युद्धों की घटनाओं पर आधारित इन फ़िल्मों में बिना किसी हिचक के फ़ारस की संस्कृति की भर्त्सना और उसके बरक्स यूनानी संस्कृति तारीफ़ हेरोडोटस की रचना *पर्सियन वार्स* के लफ़्जों में ही की गई है। इन सुपरहिट फ़िल्मों के भूरी और काली त्वचा वाले बारबेरियन फ़ारस के हैं, एशिया के हैं, अंधकार, अंधविश्वास, लिप्सा और अज्ञान के प्रतीक हैं। इन फ़िल्मों के यूनानी आज के श्वेतांग युरोप और अमेरिका की नुमाइंदगी करते हुए आज़ादी, अनुशासन, नियमबद्धता, विधिसम्मत शासन, मानवीय प्रेम और भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। बारबेरियन ईरानी आक्रामक हैं, और प्रतिरक्षात्मक हिंसा कर रहे यूनानी अपनी 'आज़ादीपसंद और लोकतांत्रिक सभ्यता' बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ध्यान रहे कि ये फ़िल्में बाद में बनी हैं। इनकी कहानी पहले ही 1998 में एक कॉमिक सीरीज़ के रूप में लोकप्रिय हो चुकी थी। विजातीय संस्कृतियों को भाषा के आधार पर बरबर या असभ्य मानने की यही समझ ग्रीको-रोमन संस्कृति ने सैकड़ों वर्षों तक चले रोमन-उपनिवेशन के दौरान युरोप को थमायी। युरोपियनों ने इसे क्रिश्चियनिटी के अपने तात्पर्यों के साथ जोड़ा। इस तरह युरोपीय भाषाएँ श्रेष्ठ सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ ईसाई-सत्य की वाहक भी करार दे दी गईं।

यूनानी स्वयं को सभ्य की तरह पेश करते थे। जो उनकी भाषा नहीं बोल सकते थे या उनकी तरह सोच नहीं सकते थे, वे उनके लिए बरबर थे। रोमनों ने अपनी आत्म-छवि सचेत रूप से यूनानियों पर आधारित की और अपने हालात से सामंजस्य बैठते हुए सभ्यता और बरबरता की बोली बोलते रहे। इसी के जरिये रोमन कैथोलिक पुरुष ने अभिजन के रूप में ईसाई-सत्य की श्रेष्ठता का दावा किया। ईसाई-सत्य का मतलब था तुर्कों, तातारों और बाक़ी सभी क्राफ़ि़रों के बरबर अंधविश्वासों के ऊपर उनके धर्म की श्रेष्ठता। आगे चल कर पेगनों और विधर्मियों का मतलब बरबरता के रूप में निकाला जाने लगा। ... यूनानियों द्वारा जब किसी अन्य को बरबर बताया जाता था, तो उसमें जातीय या नस्ली तत्त्वों की प्रबल भूमिका देखी जा सकती थी, लेकिन इस मामले में रोमनों का पलड़ा संस्कृति आधारित भिन्नता की तरफ़ झुका रहता था। यूनानियों के मुताबिक़ बरबरों को कभी सभ्य नहीं बनाया जा सकता था, लेकिन रोमनों द्वारा अपनायी गई *उपनिवेशन की शैली* बरबरों को सभ्य बनाये जा सकने की गुंजाइश पैदा करती

<sup>48</sup> मारिया बोलेट्सी (2007), 'बारबरिक इनकाउंटर्स : रिथिंकिंग बारबरिज़म इन सी.पी. कैवैफ़ीज़ एंड जे.एम. कोएट्ज़ीज़ *वेटिंग फ़ॉर द बारबेरियंस*', *कम्प्रेटिव लिटरेचर स्टडीज़*, खंड 44, अंक 1-4 : 67-96. बरबरता के विमर्श पर और विस्तार से पढ़ने के लिए देखें, मारिया बोलेट्सी (2013), *बारबरिज़म एंड इट्स डिस्कंटेंट्स*, स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़र्ड, कैलिफ़ोर्निया.

थी। शर्त यह थी कि पराजित बरबरो को रोमन लॉ, भाषा (लैटिन) और टोगा (पहनावा) के सामने घुटने टेकने होंगे। उस सूरत में उनकी बरबरता का अंतरण सभ्यता में होने की अवधारणात्मक सम्भावना खुलती थी।<sup>49</sup>

रोमनों ने भले ही अपना दर्शन और संस्कृति यूनान से प्राप्त की हो, लेकिन उनके उपनिवेशवाद का सैद्धांतिक आधार यूनानियों से थोड़ा अलग था। एंथनी पैडगन के अनुसार ग्रीक 'पोलिस' (शहर या समुदाय का खास यूनानी ढाँचा) अपनी जगह पूरी तरह स्थिर संरचना थी। उसके दायरे में अरस्तू द्वारा परिभाषित बारबेरियन अपनी 'प्रकृति-प्रदत्त दासता' के कारण कभी न खत्म होने वाली अचल-अटल गुलामी के लिए अभिशप्त था।<sup>50</sup> लेकिन, रोमन 'सिविटाज़' (नागरिकों की विधिसम्मत संरचना) की स्थिति 'पोर्टेबिल' थी। 'सिविटाज़' को रोमनों द्वारा शासित बारबेरियनों के बीच ले जाया जा सकता था। रोमन उपनिवेशवाद को उसका वाहक होना था। रोमन विद्वान सिसेरो (रामविलास शर्मा इन्हें किकेरो लिखते हैं) बारबेरियन समाज को सभ्यता के केंद्र से दूर 'प्रोवेंशियल' की तरह परिभाषित करते थे। इसे 'सिविटाज़' की तर्ज पर सभ्यता के केंद्र समझे जाने वाले 'मेट्रोपोल' के मानकों के हिसाब से शिक्षा और संस्कृति-संकरण के जरिये सभ्य बनाया जा सकता था।<sup>51</sup> इस लिहाज़ से रोम मेट्रोपोल था। उपनिवेश प्रोवेंस थे। जो प्रोवेंस मेट्रोपोल से जितनी दूर होता था, उसे उतना ही पिछड़ा और असभ्य माना जाता था। लेकिन, सभ्यता असभ्यों के बीच ले जाई जा सकती थी।

यह आश्चर्य की बात है कि भाषा के प्रश्न के प्रति बेहद सतर्क रहने के बावजूद रामविलास शर्मा पश्चिम की श्रेष्ठता के आधार और उपनिवेशवाद के उद्गम में निहित बरबरता और सभ्यता के भाषा-आधारित द्विभाजन को देखने से चूक गए। एक पश्चिमी प्रपत्ति के रूप में सभ्यता का आग्रह गैर-यूरोपियनों के लिए एक दमनकारी विचार था, और आज भी है। लेकिन, रामविलास शर्मा जब भी रोम से लड़ने वाले जर्मनिक आक्रमणकारियों का जिक्र करते हैं, तो स्पष्ट रूप से वे इस रोमन आग्रह को मान लेते हैं कि रोमन सभ्यता श्रेष्ठ थी इसलिए जर्मनिक लोगों के पास रोम को हराने के बाद भी अपना रोमनीकरण करने के अलावा कोई चारा नहीं था। यूरोकेंद्रीयता की तर्ज पर वे कुछ जगहों पर यह भी मानते दिखते हैं कि बरबरता और सभ्यता में हमेशा जंग होती रही है। ऐसा भी लगता है कि मार्क्स और उनके बाद पर लगे यूरोकेंद्रीयता के कलंक को धोने के चक्कर में उन्होंने यूनानी सभ्यता और संस्कृति की प्रबल स्वजाति-उत्कृष्टता (जो यूरोकेंद्रीयता और नस्लवाद का आधार बनी) की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। यह भी हो सकता है कि यह यूरोप, यूनान और रोम के बारे में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा दिये गए विवरणों और विश्लेषणों पर हद से ज्यादा भरोसा करने का परिणाम रहा हो।

यहाँ इमानुएल वालरस्टीन की एक व्याख्या विचारणीय है। वालरस्टीन के मुताबिक 'सभ्यता' के बारे में पश्चिमी और समाज-वैज्ञानिक समझ 'सभ्यताओं' की बहुलताओं के विचार को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करती, लेकिन 'जब भी कोई सभ्य मूल्यों के उद्गम का सवाल उठता है और यह पूछता है कि आधुनिक पश्चिमी दुनिया में इनका पहली बार उदय कैसे हुआ था, तो इसका जवाब तक्ररीबन यही होता है कि ये मूल्य पश्चिमी दुनिया के उस अतीत की पैदाइश हैं जो विलक्षण प्रकार की दीर्घकालीन प्रवृत्तियों से सम्पन्न था। इसी बात को प्राचीन काल की विरासत और/अथवा ईसाई मध्य युगों की विरासत, हिब्रू संसार की विरासत, या इन दोनों की संयुक्त विरासत के रूप में भी पेश किया जाता है। कभी-कभी हिब्रू संसार को जूडियो-क्रिश्चियन विरासत की संज्ञा भी दी जाती है।' वालरस्टीन ध्यान दिलाते हैं कि

<sup>49</sup> टिमोथी फिट्ज़राल्ड (2007), *डिस्कॉर्स ऑन सिविलिटी ऐंड बारबेरीटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड (देखें, चौथा अध्याय : 'ऑन सिविलिटी ऐंड बारबेरीटी')। इस दलील को पुष्ट करने वाली एक और बेहतरीन रचना के लिए देखें, डब्ल्यू.आर. जॉस (1971), 'द इमेज ऑफ़ द बारबेरियंस इन मिडीवल यूरोप', *कम्पैरेटिव हिस्ट्री इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री*, खंड 13, अंक 4 : 376-407.

<sup>50</sup> अरस्तू प्लेटो या अफ़लातून (424-348 ई.पू.) के शिष्य थे, और स्वयं प्लेटो पर सुक्रात (470-399 ई.पू.) का प्रभाव था। प्लेटो ने अपनी रचना *क्रैटिलस* में लिखा है कि सुक्रात के मुताबिक ग्रीक भाषा को धर्मशास्त्रीय दर्जे से सम्पन्न थी। सुक्रात मानते थे कि देवताओं ने इसी भाषा में वस्तुओं को उनके सही और प्राकृतिक नामों से पुकारा होगा।

<sup>51</sup> एंथनी पैडगन (1995), *लॉर्ड्स ऑफ़ आल द वर्ल्ड : आइडियोलॉजी ऑफ़ इन स्पेन, ब्रिटेन ऐंड फ़्रांस, सी. 1500-1800*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन, लंदन : 22.

आधुनिक युरोप स्वयं को दुनिया की कई सभ्यताओं में महज़ एक सभ्यता नहीं मानता, बल्कि उसकी आत्मछवि कुछ ऐसी है कि जैसे वह 'विशेष रूप से सभ्य' हो। वे यह भी ध्यान दिलाते हैं कि उन्नीसवीं सदी में फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों द्वारा जिस 'सांभ्यतिक मिशन' (*ला मिस्यों सिविलातरी* या औपनिवेशिक विजय के ज़रिये ग़ैर-युरोपीय उपनिवेशितों पर युरोपीय मूल्यों को थोपना) का दावा किया गया था, वह उपनिवेशवादी राज्य-व्यवस्था के खात्मे के बाद भी जारी है। पश्चिमी देशों में विभिन्न समूह आज भी जब दुनिया के विभिन्न हिस्सों में राजनीतिक परिस्थिति में 'हस्तक्षेप के अधिकार' का दावा करते हैं, तो वह भी उन्हीं सांभ्यतिक मूल्यों के आधार पर किया जाता है।<sup>52</sup>

इस विश्लेषण से हमें सुराग मिलता है कि पश्चिम की सांभ्यतिक दावेदारियों की समीक्षा करते समय हमें जूडियो-क्रिश्चियन अतीत के साथ हेलेनिक दर्शन की अन्योन्यक्रिया को किसी भी तरह नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। रामविलास शर्मा के अवचेतन में यह बात ज़रूर किसी न किसी रूप में मौजूद रही होगी। शायद इसीलिए इस इतिहास के कम से कम दो पहलुओं पर उन्होंने ठीक जगह उँगली रखी। इनमें एक है ईसाइयत के पूँजीवाद से संबंध का आयाम, और दूसरा युरोपीय ज्ञान के एशियायी पहलू। लेकिन, इसी मुकाम पर अगर वे युरोपीय ईसाइयत और यूनानी दर्शन के गहन संबंधों पर ध्यान देते, तो शायद उन्हें यह भी दिखाई पड़ सकता था कि मध्य एशिया में जन्मी ईसाइयत कैसे हैलेनिक दर्शन का आधार पा कर युरोक्रिश्चिनिटी में बदल गई। संत ऑगस्टीन (354-430) ने प्लेटो के साथ और संत थॉमस एक्विनस (1225-1274) ने अरस्तू के साथ साबिका बना कर जो वैचारिक संरचनाएँ बनाई, उन्होंने ही ईसाई अवधारणाओं पर युरोपीय पुनर्जागरण के तहत मानवतावाद और युरोपीय ज्ञानोदय के तहत सेकुलरीकृत और विज्ञानीकृत मुलम्मा चढ़ाने का रास्ता खोला।<sup>53</sup> पुनर्जागरण (जिसे एंगेल्स मानवजाति की सर्वाधिक प्रगतिशील क्रांति का दर्जा देते हैं, और इसे स्वीकार करने से रामविलास शर्मा को भी गुरेज़ नहीं है) और ज्ञानोदय, दोनों ने उपनिवेशवाद के आधारभूत तर्क को मज़बूत किया। रामविलास शर्मा ने हिगेल में जो युरोपीय अहंमन्यता और नस्ली आग्रह देखा था, उसे ज्ञानोदय के दौरान बिब्लिकल आधार पर संरचित युरोपीय ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान ने वैधता प्रदान की। भाषा-विज्ञान के अध्ययन में अपने जीवन का बड़ा हिस्सा खपाने वाले रामविलास शर्मा को थॉमस ट्राउटमान का यह अवलोकन अवश्य विचारणीय लगता—

बाइबिल से लेकर अठारहवीं सदी तक अहले-किताब लोगों के सार्वभौम इतिहास में मोज़ेक इथनॉलॉजी (हज़रत मूसा नृवंशशास्त्र) का इस्तेमाल किसी समाज और राष्ट्र की स्थिति (स्थानिकता) का पता लगाने वाली प्रमुख प्रौद्योगिकी के तौर पर होता था। यह प्रौद्योगिकी आज भी न केवल प्रचलित है, बल्कि पहले से अधिक पनप चुकी है। यह अलग बात है कि ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के संरचनागत उसूल के तौर पर इसका चलन बदले हुए सेकुलरीकृत और विज्ञानीकृत स्वरूप में किया जा रहा है (दूसरी तरफ़ नृवंशशास्त्रीय विश्लेषण ने आत्म बनाम अन्य के हिगेलियन परिप्रेक्ष्य की शकल ले ली है)। हमारे लिए यह ज़रूरी है कि हम भाषाशास्त्रीय इतिहास द्वारा किये गए मोज़ेक इथनॉलॉजी के इस अनुकूलन पर ग़ौर करें।

भाषा-विज्ञानियों को लगता है कि उनके शास्त्र की जड़ें बाइबिल में होने का तथ्य उनकी प्रतिष्ठा संदिग्ध कर देगा। इसलिए इस हकीकत को बार-बार मिटाने और जानबूझ कर भुलाने की कोशिशें की गई हैं। अपने अनुशासन के दायरे में भाषा-विज्ञान का इतिहास इस तरह लिखा गया है जैसे कि वह अतीत के साथ एक विच्छिन्नता का परिणाम हो, जैसे कि अ-विज्ञान से विज्ञान के चमत्कारिक उदय के क्षण में कोई नयी ज़मीन तोड़ी गई हो। विज्ञान-पूर्व युग से आये हुए नूह के बेटों के नामों पर आधारित भाषाई समुदायों को दिये जाने वाले 'सेमिटिक' और 'हैमिटिक' जैसे नामों की व्याख्या इस प्रकार की जाती है जैसे कि वे अतीत के ग़ैर-वैज्ञानिक अवशेष मात्र हों जिन्हें आज वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में फिर से ग्रहण कर लिया गया है। लेकिन, भाषा-विज्ञान के घोषणापत्र के इस बुनियादी मिथक के आवरण में छिपाने के सामूहिक कृत्य के बावजूद मोज़ेक इथनॉलॉजी आज

<sup>52</sup> इमानुएल वालरस्टीन (1997), पूर्वोद्धृत.

<sup>53</sup> यहाँ ऑगस्टीन और एक्विनस की ऐतिहासिक अवधि पर ग़ौर करना भी ज़रूरी है. रिनैसँस को युरो-ईसाइयत से अलग दिखाने के लिए अक्सर कहा जाता है कि यूनानियों के बारे में युरोपियों को अरबों से जानकारी मिली, जबकि युरो-क्रिश्चियनिटी के ऑगस्टीनी प्रकरण से पता चलता है कि हैलेनिक दर्शन और युरोप की ईसाइयत के बीच नज़दीकी ताल्लुकात चौथी-पाँचवीं सदी में ही स्थापित हो चुके थे. एक्विनस यानी तेरहवीं सदी तक आते-आते तो यह प्रक्रिया अपने चरम पर पहुँच चुकी थी, जबकि उस समय अरबों का हैलेनिक प्रकरण नवीं सदी में शुरू हो कर बारहवीं-तेरहवीं सदी तक पहुँचा था.

तक ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में हो रहे काम को आकार दे रही है। राष्ट्रों के वृक्ष को अब एक पहले से चले आ रहे वैज्ञानिक नाम 'क्लैडिस्टिक्स' (वंशशांखिकी) की आड़ दे दी गई है। इस बिबलिकल वृक्ष की संरचना से फूटने होने वाली रोशनी भाषा-विज्ञान की विराट परियोजनाओं के आधार में है, फिर चाहे वह जार्ज ग्रियर्सन का *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया* (1903-27) हो या फिर आंत्वॉ मिले का *लेस लांगे दु मोंद* (1952) हो।<sup>54</sup>

जहाँ तक युरोप को मिली एशियायी ज्ञान की थाती का सवाल है, रामविलास शर्मा ने विस्तार से बताया है कि पुनर्जागण काल से पहले और उपनिवेशीकरण का सिलसिला शुरू होने से पहले किस तरह युरोप एशिया से सीखने की मुद्रा में था। अरबों, ईरानियों और भारतीयों को वे ज्ञान के कई ऐसे रूपों के उद्गम का श्रेय देते हैं, जिसे बाद में युरोप अपना बता कर पेश करने लगा। यहाँ तक कि यूनानी सभ्यता के विभिन्न पहलुओं की जानकारी युरोपियों को अरबों के ज़रिये मिली थी। यहाँ सोचने वाली बात यह है कि युरोपियों ने पुनर्जागण और ज्ञानोदय के दौरान यूनान के प्रति (और रोम के प्रति भी) तो अपनी कृतज्ञता व्यक्त की, लेकिन पुनर्जागण काल के बाद ज्ञान के एशियायी स्रोतों का उपकार उन्होंने क्यों नहीं माना? युरोपीय विद्वत्ता इस ज्ञान को चुपचाप घोंट कर पी गई, और डकार तक नहीं ली। उल्टे ज्ञानोदय के बाद उसने कहना शुरू कर दिया कि एशिया के ये देश दर्शन और ज्ञान के नाम पर ऐतिहासिक रूप से अंधकार में डूबे रहे हैं। इन देशों ने सभ्य कहलाने का अधिकार खो दिया है, और यह जिम्मेदारी ईश्वर ने अब युरोपीय उपनिवेशकों को सौंपी है। जाहिर है कि यूनानी दर्शन को भले ही कोई एशियायी स्रोतों के साथ जोड़ता रहे, युरोप ने उसे एशियायी देन के रूप में अठारवीं सदी के बाद कभी नहीं देखा। उन्नीसवीं सदी आते-आते युरोप ने यूनान को कुछ इस तर्ज पर अपना दार्शनिक और सांस्कृतिक पूर्वज मान लिया था, जैसे यूरोप पश्चिमी युरोप का ही एक हिस्सा रहा हो। इस तरह यूनान युरोप का अपना, और एशिया विजातीय हो चुका था। मार्क्सवाद की स्थापना और विकास भी अंततः इसी उन्नीसवीं सदी की देन नहीं तो क्या है?

### रामविलास शर्मा की चौथी युक्ति : 'ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्चना' के आयाम

इस विश्लेषण से एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रामविलास शर्मा की युक्तियाँ मार्क्स और मार्क्सवाद का युरोकेंद्रीयता से मुक्त संस्करण तैयार नहीं कर पाईं। ऐसा करने के चक्कर में वे यूनानी दर्शन का अनुचित मूल्यवर्धन करते नज़र आए। लेकिन, इस विफलता से उनके समग्र उद्यम का महत्त्व शून्य नहीं होता। दरअसल, उनके पास एक चौथी युक्ति भी थी। इसके ज़रिये वे मार्क्सवाद को भारतीय दर्शन का आधार देने का दुस्साहस करना चाहते थे—

प्राचीन यूनानी दर्शन एशियायी भूखंड (वर्तमान तुर्की) में विकसित हुआ था। अनेक विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि उपनिषदों के चिंतन और इस दर्शन में अनेक समानताएँ हैं। ये समानताएँ इतनी अधिक हैं और ऐसी तलस्पर्शी हैं कि उन्हें आकस्मिक नहीं कहका जा सकता। उपनिषदों की अधिकांश मूल स्थापनाएँ ऋग्वेद में हैं। इस तरह कोई मार्क्सवाद के दार्शनिक स्रोतों का अध्ययन करना चाहे तो वह फ्रांस और इंग्लैंड के भौतिकवाद, फिर प्राचीन यूनानी दर्शन, उससे पहले उपनिषद और उससे बहुत पहले ऋग्वेद— इस तरह अपनी यात्रा की मंजिलें पार करेगा। भौतिकवाद के विकास में मार्क्स और एंगेल्स का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण मंजिल है, पर वह उस विकास की आखिरी मंजिल नहीं है। प्राचीन भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान, दोनों ही मार्क्सवाद को सही परिप्रेक्ष्य में देखना सिखाते हैं, साथ ही भौतिकवाद के विकास में सहायक भी हो सकते हैं।<sup>55</sup>

उल्लेखनीय है कि जहाँ भी वे मार्क्सवाद की रटंत छोड़ कर विमर्श रचते हैं, या मार्क्स से बाहर निकल कर अध्ययन करते हैं, सूचनाएँ एकत्रित करते हैं— वहीं किसी न किसी रूप में 'ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्चना' के द्वार खोलते नज़र आते हैं। असल में उनकी खूबी वहीं निकल कर आती है जहाँ वे या तो मार्क्सवाद के प्रचलित आग्रहों के विरोध में वक्तव्य देते हुए दिखते हैं (जैसे एक पार्टी की हुक्मशाही के खिलाफ़), या फिर एक ऐसे संसार का बौद्धिक भ्रमण करने

<sup>54</sup> देखें, थामस आर. ट्राउटमान (2006), *लेंगेज एंड नेशंस : कन्वर्जेंस इन कोलोनियल साउथ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्क.

<sup>55</sup> देखें, रामविलास शर्मा (1996), *भारतीय नवजागण और युरोप*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली : 20.

निकल जाते हैं जहाँ उन्हें मार्क्स की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। मसलन, आइबेरियन द्वीप समूह पर आठ सौ वर्षों तक क्राबिज रहने वाली अफ्रीकीमूल के श्यामवर्णीय मूर अरबों की राजसत्ता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

जिस समय शेष युरोप अज्ञान और अंधकार में डूबा हुआ था, स्पेन को अरबों की उत्कृष्ट विद्या का लाभ मिला। जिस समय लंदन, पेरिस और युरोप के अन्य नगर गाँव मात्र थे, उस समय स्पेन की राजधानी कोर्दोवा समृद्ध नगर था। उसमें दो लाख से ज्यादा मकान थे, और उसके निवासियों की संख्या दस लाख से अधिक थी। एक अरब लेखक के अनुसार अँधेरा होने पर आदमी दस मील तक कोर्दोवा में चलता जाए, उसे एक भी सड़क ऐसी न मिलेगी जिस पर राज्य द्वारा बतियाँ न जलाई गई हों। यह उस समय की बात है जब लंदन या पेरिस में आदमी लालटेन लेकर घर के बाहर निकलता था क्योंकि अक्सर सड़कों पर गाढ़ा कीचड़ भरा होता था। जिस समय युरोप के अन्य लोग जानवरों की खाल या मोटा-झोंटा कपड़ा पहनते थे, उस समय अरब चटक रेशमी या सूती लिबास, नफ़ीस वस्त्र धारण करते थे। कोर्दोवा में नौ सौ सार्वजनिक स्नानग्रह थे जहाँ वे नहाते थे। ईसाई युरोप उस समय बहुत कुछ बिना नहाए-धोए ही रहता था।<sup>56</sup>

इसी तरह अपनी विद्वत्ता भारत पर केंद्रित करते ही रामविलास शर्मा का वांगमय 'डिकोलोनियलिटी' के साथ रिश्ता कायम करने की आकर्षक कोशिश करता दिखने लगता है। इस कोशिश के लिए ज़रूरी था कि वे ब्रिटिश प्राच्यवादियों और उपयोगितावादियों द्वारा किये गए भारत संबंधी चित्रणों और व्याख्याओं के प्रति बेहद कड़ा रवैया अपनाते। इस लिहाज़ से साफ़ दिखाई देता है कि मार्क्सवादी होते हुए भी वे न तो मार्क्स के प्राच्यवाद के साथ खड़े हैं, और न ही वे मार्क्स द्वारा अनुपालित 'सभ्यताओं के पदानुक्रम' को मानते हैं। भारत को जड़ समाज मानने के ख़ासे बदनाम हो चुके मार्क्स और बहुतेरे मार्क्सवादियों के अवलोकन को वे साफ़ तौर पर खारिज कर देते हैं। वे भारत की प्राचीन और मध्यकालीन बौद्धिक उपलब्धियों की श्रेष्ठता को रेखांकित करते हैं। ब्रिटिश उपयोगितावाद के भारत संबंधी अवलोकनों के प्रति उनके पास केवल तिरस्कार है। पश्चिम के बरक्स हीनताग्रंथि को खंड-खंड करते हुए वे उस युग के भारत को उभारते हैं जब 'लंदन मथुरा और आगरा के सामने गाँव जैसा लगता था'। कुल मिला कर वे उपनिवेशवाद द्वारा भारतीय दिमागों पर स्थापित वर्चस्व को तोड़ने का प्रयास करते हुए दिखते हैं।

'ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना' की तरफ़ इशारा करने वाला रामविलास शर्मा का भारत संबंधी विमर्श दो धुरियों पर चलता दिखाई देता है। पहली धुरी है वेदों और उपनिषदों के अध्ययन के साथ-साथ कौटिल्य (जिन्हें वे लोकायतवादी मानते हैं) के अर्थशास्त्र सरीखे ग्रंथों में वर्णित मौर्यकालीन राज्यशास्त्र के अध्ययन पर आधारित अवलोकनों से शुरू कर स्मृतियों (मनु और याज्ञवल्क्य) तक की यात्रा। इस विश्लेषण को वे समकालीन भारत में जातिप्रथा की अभिव्यक्तियों तक ले जाते हैं। दूसरी धुरी है भाषा-विज्ञान के अध्ययन के आधार पर भारतीय भाषाओं के उदगम और विकास का विश्लेषण करते हुए प्राच्यवादियों द्वारा किये गए सूत्रीकरणों (जैसे, आर्य भाषा परिवार बनाम द्रविड़ भाषा परिवार या आदि भाषा का सिद्धांत) से मुठभेड़।

**पहली धुरी :** मार्क्स और पिछड़े हुए समाज के चौथे अध्याय में आर.पी. कांगले द्वारा अनूदित कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सहारा लेते हुए रामविलास शर्मा ने विस्तार से तत्कालीन भारतीय समाज और राज्य की संरचना के गहन विश्लेषणात्मक विवरण दिये हैं और उनकी तुलना रोमन साम्राज्य की संरचनाओं से की है। अपनी विवेचना में वे कांगले की सारी बातें नहीं मानते, बल्कि उनके अवलोकनों की भी समीक्षा करते चलते हैं। यहाँ एक अपेक्षाकृत लम्बे उद्धरण से इस विमर्श की एक झलक देखी जा सकती है—

■ कौटिल्य जिस राज्य में थे, उसमें एक ही नगर था या अनेक थे, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है; यदि एक ही नगर था तो वह पाटलिपुत्र था या कोई अन्य, यह प्रश्न भी प्रस्तुत संदर्भ में महत्वपूर्ण नहीं है। कौटिल्य चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे या उनका आविर्भाव बाद में हुआ, यह प्रश्न भी गौण है। मुख्य बात यह कि कौटिल्य ने किसी काल्पनिक समाज का विवरण प्रस्तुत नहीं किया, उनके सामने देशकालबद्ध एक मूर्त समाज था जिसकी रीति-नीति देखकर उन्होंने यह शास्त्र रचा था। उनके पहले से अर्थशास्त्र के आचार्यों की एक परंपरा चली आ रही है, वह उससे जुड़े हुए हैं और कई जगह उससे बिलग हैं। यह परंपरा

<sup>56</sup> रामविलास शर्मा ने यह विवरण लेस्टर 1964 में प्रकाशित बी. रोजर्स, फ्रे एडम्स और वाकर ब्राउन की रचना *स्टोरी ऑफ़ नेशंस* से लिया गया है।



महत्त्वपूर्ण है। सेना में क्षत्रियों के अलावा शूद्र और वैश्य हों, यह सिद्धांत कौटिल्य से पहले का है और वह उसे स्वीकार करते हैं। श्रमिकों को पगार देकर उनसे श्रम कराया जाये, यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत स्पष्ट ही कौटिल्य का गढ़ा हुआ नहीं है। जैसे साहित्य के लिए यथार्थवाद (रियलिज्म) और प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) का भेद महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही अर्थशास्त्र के लिए। कौटिल्य यथार्थवादी हैं, गतिशील यथार्थ की दिशा पहचानने वाले अर्थशास्त्री हैं, उसकी हूबहू नकल उतारने वाले प्रकृतवादी नहीं। उनके समय में समाज बदल रहा था और वह उसका बदलना देख रहे थे। मुद्रा के चलन और विनिमय के विकास से समाज का इस तरह बदलना अनिवार्य था। इस सारे परिवर्तनक्रम में प्रगतिशील भूमिका नगर की है, देहात की नहीं, और कौटिल्य नगर के पक्षधर विचारक हैं।

■ कौटिल्य के समाज में सभी लोग समान अधिकारों वाले नहीं हैं। समाज वर्णों में विभाजित हैं, प्रत्येक वर्ण का अपना धर्म है। किंतु राजा को जिस प्रजा के कोप से बचना है, वह किसी एक वर्ण की नहीं है। एक वर्ण को मिलाये रहना और दूसरे को दबाये रखना, यह नीति कौटिल्य की नहीं है। सभी वर्णों को मिलाकर लोक (जनता) का निर्माण हुआ है। राजा का कर्तव्य है कि भौतिक उन्नति द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करे— **लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन**। (1.7.1.)। राजा की शक्ति और राज्यसत्ता लोक निरपेक्ष नहीं है। लोक समाज का बहुसंख्यक भाग है। इसे धार्मिक ढकोसलों से फुसलाने और विशुद्ध दण्ड से दबाये रखने के बदले राजा का कर्तव्य है कि **अर्थसंयोग** से, लोक के लिए लाभकारी आर्थिक उन्नति से उसका प्रियत्व प्राप्त करे। निरंकुश राजाओं का नाश कैसे होता है, कौटिल्य ने उदाहरण देकर बता दिया है। कौटिल्य की राज्यसत्ता जहाँ अधिक से अधिक लोकतंत्र के निकट पहुँचती है, वह बिंदु यहाँ है। अनेक सामंत मिलकर महासामंत— राजा— को दबाये रहें, यह भी एक तरह का 'लोकतंत्र' है किंतु उसका संबंध सामंतों से है, लोक से नहीं। इस सामंती 'लोकतंत्र' का अभाव देख कर अनेक पाश्चात्य लेखक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीय राज्यसत्ता निरंकुश थी, उसमें राजा सर्वशक्तिमान और स्वेच्छाचारी था। सामंती 'लोकतंत्र' के बावजूद युरोप में लोक ने राज्यसत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया, यह ऐतिहासिक सत्य है। इसका कारण यह था कि सामंतों के इस तथाकथित 'लोकतंत्र' का संबंध लोक से था ही नहीं। अन्यायी राजा का वध किया जाता है, अर्थशास्त्र में इस लोकरीति का स्पष्ट उल्लेख है। यह रीति अनुचित है, यह कहीं नहीं कहा गया। अप्रत्यक्ष रूप से अन्यायी राज्यसत्ता के विरुद्ध लोक विद्रोह का अधिकार स्वीकृत है।

■ राजा राज्यसत्ता का सूत्रधार है। वह शासक है, जनता का सेवक नहीं है। वह सेना और कोष के बल पर शासन करता है। वह किस नीति के अनुसार शासनतंत्र चलाये, यह नीति पहले से निर्धारित है। किंतु वह अनीति करे, प्रजा को सताये, तो कानून के अनुसार उसे रोकने का विधान नहीं है। फिर भी कानून से बढ़ कर लोकरीति है और इस लोकरीति के अनुसार प्रजा विद्रोह करके अन्यायी राजा का वध कर देती है। इस प्रकार राजा के विशेषाधिकार लोकरीति द्वारा नियंत्रित हैं। किंतु विद्रोह के बाद प्रजा एक राजा की जगह दूसरे राजा को गद्दी पर बिठायेगी। कौटिल्य ने राजाविहीन लोकतंत्रीय शासन का विधान क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि कौटिल्य के समाज में उद्योगपतियों का ऐसा शक्तिशाली वर्ग अभी निर्मित न हुआ था जो भूस्वामी वर्ग— और उसके मुखिया राजा— से सत्ता छीन ले और नयी लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम करे। जो क्षुद्रक समुदाय है, वह बिखरा हुआ है, अभी संगठित नहीं हुआ कि व्यवसायियों और भूस्वामियों को किनारे करके शासनतंत्र अपने हित में चलाये। किंतु कौटिल्य का राजतंत्र विशुद्ध सामंती राजतंत्र नहीं है। उसमें राजा को जो विशेषाधिकार दिये गये हैं, वे उद्योग और व्यापार की प्रगति में सहायक हैं और इसलिए अंततोगत्वा श्रमिक समुदाय की प्रगति में भी सहायक हैं। ये विशेषाधिकार जनसाधारण से ही नहीं, पुरोहित और सामंतों से भी छीन कर उसे दिये गये हैं। कौटिल्य के समाज में न तो सत्ता के मुख्य स्रोत ब्राह्मणों के हाथ में हैं, न राज्यशक्ति के मुख्य स्रोत उनके हाथ में हैं। इस समाज में राजा अनेक सामंतों में एक सामंत नहीं है, वह केंद्रबद्ध राज्यसत्ता का सर्वप्रभुत्वसंपन्न संचालक है। ऐसे संचालक के बिना सामंती अलगवाव खत्म नहीं किया जा सकता, उद्योग और व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार नहीं की जा सकती।

■ कौटिल्य से पहले के आचार्यों का मत था कि तेज की प्रधानता के कारण सेना में शूद्रों की अपेक्षा वैश्य, वैश्यों की अपेक्षा क्षत्रिय, क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मण भर्ती किये जाने चाहिए। (9.2.21)। इन आचार्यों ने ब्राह्मणों को सैनिक कार्यों के योज्य समझा था, उन्हें क्षत्रियों से भी अधिक योज्य माना था। शूद्रों और वैश्यों में तेज की कमी भले ही, इन पूर्वाचार्यों के अनुसार सेना में भर्ती वे भी हो सकते थे। कौटिल्य जिस परम्परा के आचार्य हैं, उसमें वर्णव्यवस्था पहले ही टूट रही थी। ब्राह्मणों के बारे में वह इन आचार्यों से सहमत नहीं है। उनका तर्क रोचक है। **प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत्**। (9.2.23) शत्रु दंडवत् करके ब्राह्मणों को पटा लेगा। तर्क यह नहीं है कि युद्ध करना इनका धर्म नहीं है; तर्क यह है कि दंडवत् से प्रसन्न होकर ये

अपना सैनिक कर्तव्य भूल जायेंगे। पूर्वाचार्यों की तरह कौटिल्य फौज में वैश्यों शूद्रों की भर्ती के पक्ष में हैं किंतु तेज की प्रधानता और न्यूनता की धारणा हटा कर वे शस्त्र कौशल और संख्याबल पर ध्यान देते हैं। शस्त्रविद्या में निपुण क्षत्रिय सेना श्रेय है। बहुलसार (संख्याबल) होने पर वैश्य-शूद्र सेना श्रेय है। **प्रहरण विद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः; बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति।** (9.2.24) शास्त्रविद्या में दक्ष होने से— तेज की प्रधानता के कारण नहीं— क्षत्रिय सेना श्रेय है। वैश्य-शूद्र-सेना शस्त्रविद्या में दक्षता की कमी संख्याबल से पूरी कर लेती है। यह सेना क्षत्रिय सेना से कम श्रेय नहीं है। मुख्य बात यह कि वैश्य और शूद्र भी शस्त्र लेकर युद्ध करते थे, इस कारण वे अपनी रक्षा के लिए पूरी तरह क्षत्रियों पर निर्भर न थे। कौटिल्य की सेना विभिन्न वर्णों को युद्धभूमि में एकत्र करके उनके अलगाव को दूर करने का साधन बनती है।

■ उल्लेखनीय यह है कि कौटिल्य की सुनियोजित अर्थव्यवस्था की अनेक विशेषताएँ पूँजीवादी राज्यों ने अब भी नहीं अपनायीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है निजी व्यवस्था के लिए नियम निर्धारित करने वाली विशेषता। पूँजीवादी राज्यसत्ता पूँजीपतियों द्वारा नियंत्रित होती है, पूँजीपति उसके द्वारा नियंत्रित नहीं होते। इसलिए निरंतर बढ़ती हुई महँगाई और मुद्रास्फीति से पार पाना पूँजीवादी राज्यसत्ता के लिए असंभव है। कौटिल्य की राज्यसत्ता समाज को पूँजीवादी विकास की दिशा में आगे बढ़ाने वाली किंतु पूँजीवादी विकास की अराजकता को नियंत्रित रखने वाली राज्यसत्ता है। यह उसका बहुत बड़ा गुण है और इस संदर्भ में वह किसी भी आधुनिक पूँजीवादी राज्यसत्ता से बढ़ कर है।

■ कौटिल्य से पहले बौद्ध धर्मसंघ की स्थापना हो चुकी थी और कौटिल्य से लगभग एक हजार साल बाद शंकराचार्य ने मठों की स्थापना करना आवश्यक समझा। **अर्थशास्त्र** में मठों का अभाव नहीं है। इन मठों के पास संपत्ति है और बौद्ध मंदिरों के पास संपत्ति है और इन दोनों पर आचार्य कौटिल्य की निगाह है। जैसे धर्म, अर्थ, काम में अर्थ प्रधान है, वैसे ही धर्मसंघों की तुलना में राज्यसत्ता प्रधान है। मठाधीश संघबद्ध होकर राज्यसत्ता को चुनौती दे सकते हैं, इसलिए उनका संघबद्ध न होना उसके हित में है। भारद्वाज का मत था कि राजा रोगशय्या पर हो तो अमात्य को चाहिए कि राजकुमारों और मुख्य पदाधिकारियों को आपस में लड़ा दे, प्रजा से विद्रोह करा दे अथवा उन्हें गुप्त रूप से दण्ड देकर राज्य पर स्वयं अधिकार कर ले— **स्वयं राज्य गृह्यात्** (5.6.27)। अमात्य यदि ब्राह्मण होगा तो उसके राजा बनने पर पुरोहितवर्ग संगठित होकर राज्यसत्ता को धर्मसंघ के अधीन कर सकता है। इस संदर्भ में कौटिल्य की व्यवस्था कि सेना में ब्राह्मणों का बाहुल्य न हो, राज्यसत्ता को पुरोहितशक्ति से ऊपर रखने के उद्देश्य से प्रेरित हो सकती है। अपराध करने पर राजा पुरोहित को दण्ड दे सकता है (9.3.14) किंतु पुरोहित राजा को दण्ड नहीं दे सका।

■ कांगले का यह कहना सही है कि **मनुस्मृति** आदि की तरह **अर्थशास्त्र** में बार-बार ब्राह्मणों का गुणगान नहीं किया गया, 'न उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि वे कानून से परे हैं या राज्यसत्ता और उसके अधिकार से स्वतंत्र हैं।' (उप., पृ. 144)। कौटिल्य के समाज में उच्च वर्णों के विशेषाधिकार समाप्त नहीं कर दिये गये किंतु इन विशेषाधिकार की सीमाएँ निर्धारित करना पुरोहितों का नहीं, राज्यसत्ता का काम है।

■ कौटिल्य का समाज उस व्यापारिक पूँजीवाद के युग का समाज है जो सामंती व्यवस्था को तोड़ नहीं पाया। एक बात में वह रोमन समाज की अपेक्षा आधुनिक पूँजीवादी समाज के अधिक निकट है। वह बात है पगार देकर श्रमिकों से श्रम कराना। सामंती समाज की विशेषता है रूढ़ियों के प्रभाव से और बल प्रयोग द्वारा सेवकों से अभिजात वर्ग के लिए श्रम कराना। रोमन व्यवसाई और जमींदार दासों से बलपूर्वक काम कराते थे, अतः काम कराने के ढंग पर सामंती छाप गहरी थी। कौटिल्य के समाज में श्रमिक स्वेच्छा से काम करते हैं और जो पगार तै होती है, वह उन्हें दी जाती है। पगार देकर श्रम कराना उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति की प्रमुख विशेषता है, वह कौटिल्य के समाज में विद्यमान है। क्रीतदासों की तुलना में पगारजीवियों का श्रम अधिक विकसित समाज व्यवस्था का लक्षण है, इसलिए यह स्वाभाविक था कि विनिमय मूल्यों के उत्पादन में रोमन समाज भारतीय समाज का मुकाबला न कर सके। उत्पादन की पद्धति में इस भिन्नता के कारण यह परिणाम अनिवार्य था कि रोमन साम्राज्य का सोना चाँदी खिंचकर भारत आये, रोमन साम्राज्य के विनिमय केंद्रों की अपेक्षा भारतीय विनिमय केंद्र अधिक विशाल और समृद्ध हों। रोमन साम्राज्य के विनिमय केंद्र एक बार ध्वस्त हो गये तो वे दासों के श्रम के आधार पर फिर न पनपे। भारत के विनिमय केंद्र बार-बार ध्वस्त हुए और बार-बार पनपे क्योंकि अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहाँ पगार देने की श्रम की प्रथा का नाश कोई भी आक्रमणकारी न कर सका था।

■ वर्णव्यवस्था समाज में श्रमविभाजन का परिणाम है, इसलिए उसकी रचना के लिए अनार्यों पर आर्यों की विजय की कल्पना आवश्यक नहीं है। जिस समाज के सदस्य स्वयं को आर्य कहते थे, उसमें द्विज आर्य थे, शूद्र भी आर्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामाजिक विकास की ठीक यही ऐतिहासिक स्थिति प्रतिबिंबित है। पेट के लिए जो दास बने उसे छोड़ कर कोई अपने नाबालिग संबंधी को बेचे या गिरवी रखे तो उसे दंड दिया जायेगा। शूद्र को बारह पण और उच्चतर वर्णों को क्रमशः इसका दुगुना, तिगुना, चौगुना दंड देना होगा। (1.13.1)। सूत्र में **आर्यप्राणम्** पर टिप्पणी करते हुए कांगले ने लिखा है, 'स्पष्ट ही शूद्र को आर्यों में गिना गया है।' (भाग 2, पृ. 144)। कांगले को दृढ़ विश्वास है कि शूद्र आर्य नहीं थे, वे आर्येतर जन थे जिन्हें आर्यों ने जीता था। कौटिल्य ने उन्हें किसी विशेष उद्देश्य से आर्यों में गिन लिया था। लिखा है, 'आर्यों में शूद्रों का गिना जाना वैदिक ग्रंथों की सामान्य धारणा के अनुरूप नहीं है। संभव है, बसे हुए जन समुदायों को आर्य संघ (आर्यन फ़ोल्ड) में लाने के लिए अर्थशास्त्र का यह प्रयास हो। लगता है, धर्मशास्त्रों में इस प्रयास की उपेक्षा की गयी है क्योंकि सामान्यतः जो कुछ भी आर्य विश्वासों और व्यवहार से एकदम मेल न खाता हो, उसके प्रति वे असहिष्णु हैं।' (भाग 3, पृ. 144)। धर्मशास्त्रों में जिसे वैदिक परम्परा माना गया है, कौटिल्य ने अवश्य उसकी उपेक्षा की है। उनका यह कार्य लोकायत परम्परा के अनुकूल है और उदारता के अतिरिक्त उनके साहस का परिचायक है किंतु वैदिक परम्परा की धर्मशास्त्रीय व्याख्या को कांगले ने ऐतिहासिक व्याख्या मान लिया है, इसलिए उनके विचार से द्विज ही आर्य थे, शूद्र नहीं।

शूद्रों को आर्यत्व से खारिज करने वाली यह रूढ़िवादी धारणा पूँजीवादी इतिहासकारों के नस्लपंथी दृष्टिकोण से कैसे मेल खाती है, इसका प्रमाण कांगले ने आगे इस प्रकार दिया है। 'प्रत्येक युग में वैदिक यज्ञधर्म के अनुयायी उच्च वर्णों तक सीमित रहे होंगे और वे पूरी आबादी का अल्प अंश ही रहे होंगे। आम जनता अधिकार आर्येतर उद्भव की थी और सामान्यतः उसे वैदिक क्रियाओं से बहिष्कृत रखा गया था।' (उप., पृ. 158)। कुछ लोग आर्य उद्भव के, कुछ आर्येतर उद्भव के। यह 'उद्भव' नस्ल के अलावा और क्या है? यज्ञधर्म के अनुयायी थोड़े से थे; उन्होंने बहुतों को शूद्र बनाया। यह अनार्यों पर आर्यों की दिग्विजय कथा के अलावा और क्या है? प्रश्न यह है कि आर्य लोग आर्येतर जनता के संपर्क में आने के बाद यज्ञधर्म के अनुयायी बने या उससे पहले से थे? यदि पहले से थे तो हल कौन जोतता था, रथ कौन बनाता था, सूत कौन कातता था, कपड़े कौन बुनाता था? शूद्र के बिना द्विज का अस्तित्व संभव नहीं है, इसलिए या तो मानना चाहिए कि आर्येतर जनता से संपर्क में आने के पहले आर्यों में न तो कोई ब्राह्मण था, न कोई क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र, या फिर यह मानना चाहिए कि इस संपर्क के बाद आर्य द्विज बने और आर्येतर जन शूद्र बने। दोनों ही स्थितियों में वर्णव्यवस्था आर्यजनों की मूल परम्परा सिद्ध न होगी।

■ ऋग्वेद के दसवें मंडल में पुरुषसूक्त है जिसमें वर्णभेद स्पष्ट है। यह सूक्त बाद की रचना माना जाता है; उसमें **ऋग्वेदकालीन** समाज का यथार्थ चित्र नहीं है, वह उत्तर-वैदिक काल की रचना है। किंतु आर्येतर जातियों के शूद्र बनाये जाने की कथा की तुलना में वर्णों का उत्पत्ति का यह पुरुषसूक्त वाला विवरण कहीं अधिक वैज्ञानिक और यथार्थपरक है। जिस पुरुष को देवता विभाजित करते हैं, उसका मुख ब्राह्मण है, उसकी बाहें राजन्य हैं, जांघें वैश्य हैं और उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। (10.90)। ऋग्वेद में शूद्रवर्ण का यह एकमात्र उल्लेख है। यह अनार्यों को शूद्र बनाने की कथा से अधिक वैज्ञानिक इसलिए है कि जिस पुरुष के अंग तीन उच्च वर्ण बने, उसी के एक अंग से शूद्र भी उत्पन्न हुए, भले ही वह अंग पैर हो। चारों वर्ण एक ही पुरुष— एक ही समाज— से संबद्ध हैं, वे किसी अन्य **पुरुष**— राक्षस या दैत्य-समाज— से लाकर तीन वर्णों वाले समाज में जोड़े नहीं गये। और आरंभ में वर्णभेद नहीं है; पुरुष के पास सिर पैर आदि सभी अंग हैं, वे विभाजित नहीं हैं। वर्ण तब बनते हैं जब एक ही पुरुष— समाज— विभाजित होता है।

■ स्त्री पति की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है। वह उसे छोड़ कर चला जाये तो एक निश्चित अवधि तक वह उसकी राह देखने के बाद पुनर्विवाह कर सकती है। छोड़ कर जाने के बाद पति का समाचार मिल जाये तो वह एक वर्ष तक प्रतीक्षा करेगी, समाचार न मिले तो सात ऋतुकाल तक प्रतीक्षा करेगी। बता कर गया हो और उसका समाचार मिले तो दस ऋतुकाल तक राह देखेगी; बताकर गया हो और समाचार न मिले तो पाँच ऋतुकाल की परीक्षा काफी है। विवाह के समय पति ने शुल्क आंशिक रूप में दिया हो और उसका समाचार मिले तो सात ऋतुकाल तक प्रतीक्षा करें; ऐसे पति का समाचार न मिले तो तीन ऋतुकाल तक राह देखे। यदि उसने पूरा शुल्क दिया है और उसका समाचार मिले तो दस ऋतुकाल तक, समाचार न मिले तो पाँच ऋतुकाल तक वह उसकी प्रतीक्षा करे। इसके बाद वह धर्मस्थों (न्यायधीशों) की अनुमति से पुनर्विवाह कर सकती है। (3.4.31-35)। एक बार ब्याह हो जाने पर पत्नी दासी हो गयी, पति उसे छोड़ कर चला जाये, तो वह घुटती रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकती, यह स्थिति यहाँ नहीं है। स्त्री की अपनी संपत्ति है; पति विवाह के समय उसे शुल्क देता है; यदि उसने पूरा शुल्क दिया

है तो अधिक समय तक, आंशिक रूप से ही दिया है तो कम समय तक, वह उसकी प्रतीक्षा करेगी। प्रतीक्षाकाल अनन्त नहीं है। कारण यह है कि नारी गृहस्थ जीवन में अपना नारीत्व सार्थक न कर सके तो यह धर्म की हानि-धर्मवध— है : तीर्थोपराधो ही धर्मवध इति कौटिल्यः। (3.4.36)। तीर्थ का उपरोध ऋतुमती के धर्म का उल्लंघन है। तीन वर्ष से कुमारी ऋतुमती हो और विवाह न हुआ हो तो वह अपने वर्ण के पुरुष के पास जा सकती है। उसके बाद वह भिन्न वर्ण के पुरुष (अतुल्य) के पास भी जा सकती है। (4.12.10)। पति के बिना इस धर्म का पालन संभव नहीं है। एक व्यवस्था कुमारी पत्नी के लिए है जिसे पति ह्रस्वप्रवास के दौरान छोड़ गया हो। दीर्घ-प्रवास की स्थिति में पत्नी के लिए अन्य विधान है।

पति दीर्घप्रवासी हो, परिव्राजक हो जाये, या उसकी मृत्यु हो गयी हो तो वह सात ऋतुकाल (तीर्थनि) तक उसकी प्रतीक्षा करेगी, यदि उसके संतान है, तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा करेगी। उसके बाद वह पति के सहोदर के पास जा सकती है। यदि कई सहोदर हों, तो उनमें जो पति के निकटतम हो, धार्मिक हो, उसका भरण करने में समर्थ हो अथवा जो सबसे छोटा हो और भार्याहीन हो, उसके पास जा सकती है। यदि ऐसे सहोदर न हों, तो वह पति के निकटतम संबंधी (सपिण्ड) अथवा कुल में निकट संबंधी (कुल्य) के पास जा सकती है (अर्थात् उससे विवाह कर सकती है)। (3.4, 37-40)।

स्त्री को संपत्ति मानकर कुछ आचार्यों ने उसके लिए परिग्रह (संपत्ति, घिरी हुई भूमि) के उपमान का प्रयोग किया था। इन आचार्यों के मत से एक के परिग्रह (क्षेत्र) में कोई दूसरा बीज डाले, तो उपज पर (पुत्र पर) अधिकार क्षेत्र के स्वामी का होगा। (3.7.1)। खेत में बीज दूसरे का है किंतु उपज पर अधिकार खेत के मालिक का होगा। अन्य आचार्यों का मत है। कि माता तो थैले (भस्त्रा) के समान है; जिसका बीज होगा, उसी का पुत्र होगा। (3.7.2)। विद्यमानमुभयमिति कौटिल्यः। (3.7.3)। इसका एक अर्थ यह किया गया है कि संतान की उत्पत्ति के लिए क्षेत्र और बीज दोनों आवश्यक हैं, इसलिए संतान पर माता और पिता दोनों का अधिकार है। कांगले के अनुसार कौटिल्य का आशय यह है कि 'किन्हीं परिस्थितियों में उस पर क्षेत्र के स्वामी का अधिकार होगा, अन्य में बीज डालने वाले का। आपस में समझौता हो जाये तो उस पर दोनों का अधिकार होगा।' (भाग 2, पृ. 213)।

रामविलास शर्मा के अनुसार कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी (अर्थात् दर्शनशास्त्र) को सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय, और सभी धर्मों (वर्णधर्मों) का आधार बताया है। सांख्य, योग और लोकायत भारत के प्राचीनतम दर्शन हैं और इन तीनों को मिला कर आन्वीक्षिकी बनी है। आन्वीक्षिकी की सार्थकता यह है कि वह लोक का उपकार करने के लिए है। लोकस्योपकरोति, किसी वर्ण विशेष का उपकार नहीं करती। वे कहते हैं कि कौटिल्य के बहुत बाद में लिखी गई स्मृतियों (मनु और याज्ञवल्क्य) ने आन्वीक्षिकी को पहले तर्कविद्या में सीमित करने की कोशिश की, फिर आत्मविद्या अर्थात् वेदांत माना। स्मृतियों के लेखक लोकायत को पूर्व की भाँति दर्शनों में सबसे ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे। इस तरह भारतीय चिंतन की विवेकसम्मत, वैज्ञानिक परम्परा को जानबूझ कर आध्यात्मिक और पौराणिक रूप दिया गया। अनेक आधुनिक विवेचक इस विकृति को भारतीय चिंतन की मौलिक और प्रधान परम्परा मान बैठे। लोकायत को किस प्रकार बदनाम किया गया, इसकी चर्चा करते हुए रामविलास शर्मा बताते हैं कि चार्वाक दर्शन को 'ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्' में सीमित करना, और कौटिल्य शब्द का अर्थ कुटिलता में निकालना— इस बौद्धिक षडयंत्र के दो उदाहरण हैं। वे कहते हैं कि कौटिल्य के जमाने में विशुद्ध भौतिकवाद और सुखभोगवादी विचारतंत्र के बारे में मखौल करने का माहौल नहीं था।

अर्थशास्त्र से स्मृतियों तक के सफ़र में समाजदृष्टि में क्या-क्या परिवर्तन हुए और समाज की संरचनाएँ किस प्रकार बदलीं— इसके अवलोकन में भी रामविलास शर्मा ने दिलचस्पी दिखाई। इन परिवर्तनों के आईने में तत्कालीन समाज को किस तरह समझना चाहिए, इसके कुछ सुझाव भी उनके पास मिलते हैं जिन्हें अंतर्दृष्टियों की तरह ग्रहण किया जा सकता है। ज़ाहिर है कि अगर भारतीय संदर्भ में 'डिकोलोनियलिटी' की बौद्धिक मुहिम को आगे बढ़ाना है तो इन संकेतों को समझ कर इस दिशा में और काम करना होगा। खास बात यह है कि रामविलास शर्मा अंग्रेजों के बाद के भारतीय समाज की जातिप्रथा संबंधी विकृतियों को भारतीय अतीत पर प्रक्षेपित करने का विरोध करते हैं। इसका एक छोटा सा उदाहरण मार्क्स और पिछड़े समाज के उपसंहार में मिलता है, जहाँ चमार जाति की जगह-जगह पाई जाने वाली संख्यात्मक विभिन्नता के बारे में उनके संक्षिप्त से विश्लेषण से एक बेहतरीन अंतर्दृष्टि मिलती है—

आंध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश के बहुत से गाँवों में चमार भाइयों की संख्या काफी है, ज़मींदार उनसे खेती का काम कराते रहे हैं। हरिजनों के घर जलाने, उन्हें गोली मारने और तरह-तरह से सताने के जो विवरण सुनने को मिलते हैं, उनसे हम कल्पना करने लगते हैं कि अंग्रेज़ी राज के पहले भी यही हालत रही होगी।

चमार का पेशा जूते तथा चमड़े की दूसरी चीज़ें बनाना है। गाँव की ज़रूरत पूरी करने के लिए थोड़े से चमार काफी होंगे, किंतु बहुत से गाँवों में उनकी संख्या इस ज़रूरत से ज्यादा है। शूद्र वर्ण की अन्य जातियों के लोग बहुत ज़रूरत भर को हैं, पर ये लोग ज़रूरत से ज्यादा क्यों हैं? शूद्र वर्ण की अन्य जातियों के लोगों से ज़मींदार इसी तरह काम क्यों नहीं लेते? यदि आप समझते हैं कि चमार के पेशे में चमड़े के काम के अलावा ज़मींदार के खेत जोतना भी शामिल है, तो यह बताएँ कि सामंतवाद के गढ़ राजस्थान में चमारों का अनुपात क्यों नहीं है जो बिहार, उत्तर प्रदेश या आंध्र के बहुत से गाँवों में है।

भारत के जिन गाँवों में चमार बिरादरी के लोग ज्यादा दिखाई दें, आप समझ लें कि उनका रोजगार किसी न किसी प्रकार ठप्प हो गया है। वे चाहे गाँव में रहते रहे हों, चाहे शहर में, वे विनिमय के लिए माल तैयार करते थे। अंग्रेज़ी राज में उद्योगों के साथ चमड़े के उद्योग का नाश हुआ, इस उद्योग के कारीगर बेकार हो गए। अंग्रेज़ी राज की छत्रछाया में ज़मींदारों ने इनसे गुलामों की तरह काम कराया। स्वाधीन भारत में यह विरासत कायम है। राजस्थान कभी चमड़े के उद्योग के लिए प्रसिद्ध नहीं हुआ किंतु आंध्र, बिहार और उत्तर प्रदेश में इस उद्योग का काफी विकास हुआ था। इसका विनाश बीसवीं सदी में चालू था। इस सदी के पहले दशक में चमड़े और धातु के कारीगरों की संख्या छह फ़ीसदी घटी थी, किंतु इसी अवधि में धातुओं के माल के व्यापारियों की संख्या छह गुना बढ़ी थी। 1911 की जनगणना की रिपोर्ट में इसका कारण यह बताया गया था कि देशी बर्तनों की जगह विलायती बर्तन बिकने लगे, वैसे ही चमड़े की देशी चीज़ों की जगह विलायती चीज़ें बिकने लगीं। चमड़े के देशी उद्योग में लगे कारीगरों की बेकारी बढ़ती गई, इससे लाभ उठाया ज़मींदारों ने। जहाँ बन पड़ा चमारों ने दूसरा धंधा अपनाया। जहाँ न बन पड़ा, वहाँ ज़मींदार की बेगार करने को विवश हुए।

क्या यह अवलोकन अंग्रेज़ों से पहले के समाज के बारे में पिटी-पिट्टाई लीक से अलग हट कर सोचने की तरफ़ नहीं ले जाता? अगर इस तरह के अवलोकनों के साथ धर्मपाल द्वारा उपलब्ध कराये गए अठारहवीं सदी की पारम्परिक भारतीय शिक्षा प्रणाली के विस्तृत विवरण भी जोड़ लिये जाएँ तो 'डिकोलोनियलिटी' के भारतीय इतिहास की संभावनाएँ खुलती नज़र आने लगती हैं।<sup>57</sup>

**दूसरी धुरी :** औपनिवेशिक विमर्श और उसके परिणाम किस प्रकार भारतीय समाज और राजनीति में विकृतियाँ पैदा करते हैं— इसकी चर्चा करते हुए रामविलास शर्मा ने मुख्य तौर पर अपना निशाना ऐतिहासिक भाषाविज्ञान (फ़िलोलॉजी) पर साधा, उसके विकृतिमूलक चरित्र को प्रबलता से चिह्नित किया, भारतीय भाषाओं और उन्हें बोलने वालों के उद्गम की भारत में ही शिनाख़्त की—

... पूर्वग्रह यह है कि भारत में सदा बाहर से आकर लोग बसते रहे हैं। यहाँ के आदमी बाहर निकल कर कहीं बसने नहीं गए। भारत में जो भी आकर बस गया, वह नये आक्रमणकारियों से पराजित हुआ। भारत का इतिहास यहाँ के जनसमुदायों की अटूट पराजय-शृंखला का इतिहास है। भाषाविज्ञान के लिए इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत प्राचीन काल से अब तक भाषा-तत्त्वों का आयात-केंद्र रहा है, भाषा-तत्त्वों का निर्यात-केंद्र कभी नहीं रहा। भारत का अपना भाषाई रिक्थ कुछ भी नहीं है। केवल आर्य नहीं, द्रविड़-कोल-नाग भी अपने भाषा-तत्त्व बाहर से लाए। संसार के सभी भाषा परिवारों का निर्माण भारत से बाहर हुआ है। यहाँ किसी भाषा परिवार का निर्माण नहीं हुआ। आर्य, द्रविड़, कोल, नाग— इन चार परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले जनमुदायों में कोई भी भारत का मूलनिवासी नहीं है। ... परम्परागत ऐतिहासिक भाषाविज्ञान मगध, कोसल, कुरु आदि इतिहासप्रसिद्ध गणसमाजों की भाषाई विशेषताएँ पहचानने नहीं देता, वह द्रविड़ भाषाओं से आर्य भाषाओं के बहुमुखी संबंधों को विजित-विजेता के एकमुखी संबंध बना देता है। वह पड़ोसी क्षेत्रों से हमारे भाषाई संबंध विकृत रूप में पेश करता है। आधुनिक भाषाओं के समस्त विकास को हास का इतिहास बना देता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान ने भाषा समुदायों के बारे में जिन धारणाओं का प्रचार किया है, उनका गहरा असर भारतीय जनता के सामाजिक जीवन पर पड़ा है। विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्रवाई उक्त धारणाओं से प्रभावित होती हैं। राजनीति ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से असंपृक्त नहीं है, न ही ऐतिहासिक भाषाविज्ञान राजनीति से असंपृक्त है। ... एक उत्तर भारतीय आर्य भाषा समूह और दूसरा दक्षिण भारतीय द्रविड़ भाषा समूह। यदि यह सिद्ध किया जाए कि

<sup>57</sup> देखें, धर्मपाल (2000), *द ब्यूटीफुल ट्री : इंडीजीनियस इंडियन एजुकेशन इन एटीथ सेंचुरी*, अदर इंडिया प्रेस, गोवा.

आर्य आक्रमणकारियों ने भारत आ कर द्रविड़ भाषाओं का दमन किया तो इसकी प्रतिक्रिया अंग्रेजों के लिए लाभप्रद होगी। कुछ ईसाई धर्मप्रचारकों ने बड़ी लगन और बड़ी सूझबूझ से द्रविड़ भाषाओं पर कार्य किया, किंतु उनके इस अच्छे काम का एक उद्देश्य यह भी था कि वे द्रविड़ भाषियों को समझाएँ कि उत्तर भारत के ब्राह्मणों ने तुम पर अपनी भाषा लादी है, इसलिए तुम्हारा कर्तव्य न केवल संस्कृत के चंगुल से निकलना है वरन ब्राह्मण धर्म की दासता से मुक्त होना भी है।<sup>58</sup>

मैंने पिछले कुछ वर्षों में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि उपनिवेशवाद का उत्तर-जीवन उसके भाषाई विमर्श से ही संभव हुआ है। इस विमर्श में फ़िलोलॉजी के माध्यम से नव-प्राच्यवादी विद्वत्ता द्वारा पहले कलकत्ता और फिर मद्रास के मंचों पर भारोपीय भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार के सूत्रीकरणों का केंद्रीय महत्त्व है। इसमें ईसाई मिशनरियों की भूमिका जगजाहिर है। रामविलास शर्मा की जिस त्रिखंडीय रचना से उक्त उद्धरण लिया गया है, वह मेरे इस सूत्रीकरण की तसदीक करती है।<sup>59</sup> जाहिर है कि रामविलास शर्मा की बौद्धिक परियोजना की निगाह औपनिवेशिक विमर्श के इस पहलू पर गहराई से जमी हुई थी। कहना न होगा कि प्राच्यवादी औपनिवेशिक परियोजना के दो पहलुओं को भारतीय विद्वत्ता ने काफ़ी आत्मसात कर लिया है। ये हैं आर्य आक्रमण/आव्रजन का नस्लवादी सिद्धांत, और इस सिद्धांत के आधार में मौजूद भारोपीय भाषा परिवार बनाम द्रविड़ भाषा परिवार की अवधारणाएँ।

ऊपर दिया गया उद्धरण तो एक संकेत मात्र है, दरअसल रामविलास शर्मा का वांगमय इन दोनों के प्रबल प्रतिकार से गुँज रहा है। ऐसा करने में उन्होंने अपने जीवन के ग्यारह साल खपाए, भाषा-विज्ञान पर जम कर अध्ययन, मनन और लेखन किया। उन्होंने नतीजा निकाला, 'आर्य नाम का कोई समाज नहीं था। इस नाम की कोई नस्ल नहीं थी। नस्ल के आधार पर कहीं भी किसी समाज का गठन नहीं हुआ। नस्ल की कल्पना उन्नीसवीं सदी में यूरोप के लोगों ने की। संस्कृत व्याकरण की सहायता से जब देखा कि लैटिन, ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में बहुत समानता है, तो उन्होंने कल्पना कर ली कि ये सब लोग किसी आदि भाषा की शाखाएँ हैं, इस आदि भाषा को बोलने वाले एक नस्ल के लोग थे और भारत में रहते थे। ... उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत के बाहर से आने वाले आर्यों की कल्पना लोकप्रिय न हुई थी। ... उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के सुदृढ़ होने और यूरोप की अन्य जातियों के प्रसार के साथ विद्वानों भारत को अपनी भाषाओं का स्रोत कहना उनके लिए अपमान की बात है। जिनको उन्होंने दास बनाया है उनके बाप-दादों को अपनी भाषाओं का जनक कहना सम्मान-विरुद्ध है। इसी वजह से उन्होंने भारत पर आर्यों के आक्रमण की कहानी गढ़ी। यह काम मुख्यतः जर्मनी में हुआ।'<sup>60</sup>

रामविलास शर्मा ने प्राच्यवाद द्वारा प्रवर्तित आदिभाषा और भाषा-परिवारों के सिद्धांतों को आड़े हाथों लेते हुए अपनी रचना *भाषा और समाज* में लिखा है, 'आदिभाषा वाला सिद्धांत संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर लागू किया जाता है। संस्कृत क्यों विकृत हुई? अनार्य प्रभाव से? यूरोप में आदि आर्यभाषा कैसे विकृत हुई? भारत के पूर्व में ध्वनि-क्षय हुआ, उत्तर में नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? जो विद्वान संस्कृत से प्राकृतों की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह भी कहते जाते हैं कि प्राकृतें कृत्रिम हैं। फिर कृत्रिम भाषाओं से सहज आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति कैसे हुई? यदि मूल शब्द-भण्डार और भाव-प्रकृति की दृष्टि से विचार किया जाए तो प्राकृतें संस्कृत से मूलतः भिन्न भाषाएँ सिद्ध नहीं होतीं। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नसैनी छोड़ देने पर आधुनिक भाषाओं के मूल तत्त्व काफ़ी प्राचीन सिद्ध होते हैं। ... मानव समाज का साधारण नियम है बोलियों का बिखराव। भाषा का परिवार आज के मानव-जीवन की तुलना में आदिम मानव-परिवार के अधिक निकट था जिसमें अजनबी भी शामिल कर लिए जाते थे। जैसे किसी आदि-पुरुष से मानव-परिवार की उत्पत्ति नहीं हुई, वैसे ही किसी आदिभाषा से कोई भाषा-परिवार नहीं बना।

<sup>58</sup> देखें, रामविलास शर्मा के त्रिखंडीय ग्रंथ *भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली के पहले खंड का पृष्ठ 12, तीसरे खंड का पृष्ठ 355, और पहले खंड का पृष्ठ 36.

<sup>59</sup> देखें, अभय कुमार दुबे (2020), 'भाषा परिवार और सभ्यता का नस्ली सिद्धांत', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति*, पंद्रहवाँ अंक, सीएसडीएस-वाणी : 84-133.

<sup>60</sup> देखें, *नवभारत टाइम्स* में 19 जुलाई, 1988 को प्रकाशित सुरेश शर्मा द्वारा लिया गया साक्षात्कार, 'आर्य कोई नस्ल नहीं थी कभी'.

... संस्कृत आदि-भारत-युरोपीय-भाषा का उच्छिष्ट और विकृत रूप न हो कर स्वतंत्र भारतीय भाषा सिद्ध होती है। युरोप की भाषाओं पर संस्कृत और उसके समानांतर बोली जाने वाली भाषाओं का असर पड़ा है, न कि किसी कल्पित आर्य-भाषा से अनार्य सम्पर्क के कारण संस्कृत की उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएँ संस्कृत के समानांतर बोली जाने वाली भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं, न कि वे संस्कृत का विकृत रूप हैं।<sup>61</sup>

भगवान सिंह ने भाषा परिवारों की प्राच्यवादी औपनिवेशिक राजनीति पर टिप्पणी करते हुए रामविलास शर्मा के इस मत का भरपूर समर्थन किया है—

रामविलासजी का यह मत बहुत सार्थक है कि भाषाओं की तुलना करते समय उनकी समानताओं पर ही नहीं अपितु उनकी भिन्नताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। यह एक परिवार में परिगणित भाषाओं में ऐसी समानताएँ हैं जो भौगोलिक दूरी के बाद भी बहुत प्राचीन काल से उनमें बनी हुई हैं और इनके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक ही परिवार की भाषाएँ हैं तो उनमें पाई जाने वाली भिन्नताओं का स्रोत क्या है? ... काल्डवेल की यह स्थापना सही है कि द्रविड़ भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से हुई, परंतु यह अधूरी सच्चाई है। पूरी सच्चाई यह है कि भारत की किसी भी भाषा की उत्पत्ति न तो संस्कृत से हुई, न उसमें आए विकारों की परिणिति के रूप में हुई। ... जिन्हें हम आर्यभाषा क्षेत्र कहते हैं उनमें सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती थीं, जिनकी सही पहचान संभव नहीं है, परंतु जिनके परस्पर मिलने और कुछ के विलय होने के परिणामस्वरूप इस पूरे भूभाग पर संस्कृत के प्रभाव के कारण आभासिक समानताएँ पैदा हुई, जिनसे यह भ्रम पैदा होता है कि ये संस्कृत के क्रमिक तद्भवीकरण के कारण पैदा हुई हैं। ... पूरा सच यह है कि न तो भारोपीय भाषा की किसी शाखा की कोई उपशाखा किसी भी रीति से भारत में आई, न ही विशुद्ध आर्य भाषा जैसी किसी चीज़ का कभी अस्तित्व था। भाषाएँ सामाजिक-आर्थिक विकास के क्रम में समृद्ध होती हैं, भिन्न भाषाओं के गहन सम्पर्क में आने पर उनमें बदलाव होता है, परंतु वे न सड़ती हैं, न गलती हैं, न जनन करती हैं, न ही विघटित होती हैं।<sup>62</sup>

### ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्रचना : रामविलास शर्मा द्वारा प्रस्तावित अध्ययन-योजना

उल्लेखनीय है कि 1986 में *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* लिखने के बाद रामविलास शर्मा ने नब्बे के दशक में क्रमशः चार पुस्तकें और लिखीं। ये थीं *स्वाधीनता संग्राम : बदले परिप्रेक्ष्य, भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद एवं भारतीय नवजागरण और युरोप*।<sup>63</sup> अस्सी के दशक में ही वे इससे पहले भारत में *अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद* शीर्षक से एक बहुपठित द्विखंडीय ग्रंथ लिख चुके थे। यह एक पूरी शृंखला थी जिसका शीर्षक था 'इतिहास और समकालीन परिदृश्य'। इन पुस्तकों में उन्होंने क्रमशः राष्ट्रीय एकता की समस्या, भारत के संबंध में मार्क्स के विचारों की व्याख्या, पुरातत्व और प्राचीनकाल के इतिहास की समस्याएँ एवं भारत में हुए विभिन्न जागरणों की युरोप के जागरण से समानता और अलगाव को संबोधित किया। अगर उन्हें समय मिलता तो वे अपने इस अध्ययन-क्रम को और आगे बढ़ाते। वस्तुतः उनके पास एक पूरी अध्ययन-योजना थी जिसका जिक्र वे अपने साक्षात्कारों में करते थे। कुछ वर्ष पहले रामविलास शर्मा के कृतित्व का अध्ययन करते हुए मैंने कुछ साक्षात्कारों का इस्तेमाल करके उनके कथनों के कुछ कोलाज बनाये थे।<sup>64</sup> इस युक्ति का इस्तेमाल करने का लाभ यह हुआ कि उनके विशाल वांगमय से लम्बे-लम्बे उद्धरण निकालने से बचते हुए मैं संक्षेप में उनके विचारों की झलक देने में कामयाब रहा। कहना न होगा कि इस युक्ति की सीमाएँ भी हैं, लेकिन शब्द चूँकि रामविलास शर्मा के ही हैं इसलिए उनके ज़रिये तात्पर्यों की प्रामाणिकता कम से कम एक हद तक तो सुनिश्चित की जा सकती है। उनके कथनों के ये कोलाज कई बहसतलब प्रश्नों पर उनकी वह राय पेश करते हैं जो प्रचलित मार्क्सवादी रवैये से हटते हुए हिंदी-क्षेत्र में वामपंथी विमर्श का पुनर्गठन या पुनःसंयोजन करती नज़र आती है।

<sup>61</sup> देखें, रामविलास शर्मा (2002), पूर्वोद्धृत : 11, 13.

<sup>62</sup> देखें, भगवान सिंह (2013), *आर्य-द्रविड़ भाषाओं का अंतःसंबंध*, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली : 148-149.

<sup>63</sup> ये चारों पुस्तकें 1992 से 1996 के बीच दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय द्वारा प्रकाशित हुईं। इनकी विस्तृत भूमिकाएँ श्याम कश्यप ने लिखीं जो उस समय इस निदेशालय के कार्यवाहक निदेशक थे.

<sup>64</sup> इन कोलाजों के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2013), पूर्वोद्धृत.

मसलन, हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में मार्क्सवादी विमर्श परम्परा को तिरस्कार से देखता है, लेकिन रामविलास शर्मा परम्परा को रूढ़ि से अलग करते हुए उसे भिन्न तरह से संसाधित करना चाहते हैं। विशेष तौर से वामपंथी खित्ते के समाज-वैज्ञानिक इस बात पर जोर देना पसंद करते हैं कि भारत की कोई एक परम्परा नहीं है, बल्कि कई परम्पराएँ हैं और वे अलग-अलग और परस्पर संघर्षरत भी हैं। लेकिन, परम्परा की विविधता से संबंधित रामविलास शर्मा का आग्रह यह है कि यह विविधता परम्परा के बाहर न हो कर उसके भीतर है और इसीलिए वह भारतीय परम्परा के किसी एक समेकित रूप होने के आग्रह को खारिज नहीं करती, 'अद्वैत के भीतर जैसे द्वैत होता है, वैसे ही परम्परा के भीतर विविधता होती है। अगर भारत को आप एक इकाई मानते हैं, एक घटक मानते हैं, तो उसकी एक परम्परा होगी ही। ... यह सब आपके सोचने पर निर्भर करता है कि आप परम्परा के जो विविध घटक हैं, उन्हें स्वतंत्र मानते हैं या उसी परम्परा के अंतर्गत मान लेते हैं। ... कोई भी कला और सांस्कृतिक कर्म ऐसा नहीं जहाँ आप पहले से विद्यमान वस्तुओं और उपकरणों के आधार पर नयी इमारत न खड़ी करते हों। चाहे धर्म हो, चाहे राजनीति। चाहे अर्थशास्त्र हो और चाहे विज्ञान। हर क्षेत्र में जो पहले से सुलभ है उसी के अंश लेकर उसके ऊपर अपना नया भवन खड़ा करते हैं। यह कहना कि रचनाकार को अपनी पुरानी परम्परा से कुछ लेना-देना नहीं, यह असम्भव स्थिति है। ... यह भी शंका की गयी है कि परम्परा न केवल हमारी मौलिकता को नष्ट करती है, बल्कि हमें अतीतोन्मुख बनाती है और परिणामतः हमें वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने से रोकती है। दरअसल यह बात रूढ़ियों के लिए कही जा सकती है। ... जहाँ परम्परा को जस का तस ग्रहण करने के पक्ष में हों, उसका अनुकरण करें, वहाँ रूढ़ि हो जाती है। जहाँ परम्परा जीवित है, वहाँ आप उसके कुछ अंश ग्रहण करते हैं। उसको आगे बढ़ाते हैं। ... किसी भी पुराने साहित्यकार अथवा युग के प्रगतिशील तत्त्वों का विवेचन करने पर कुछ विद्वानों की प्रतिक्रिया होती है कि उन्हें— यानी साहित्यकारों और पुराने युगों को— मार्क्सवादी बनाया जा रहा है। इस प्रतिक्रिया के दो कारण हैं। पहला मार्क्सवाद की जानकारी न होना। दूसरा— पुराने युगों और साहित्यकारों की जानकारी न होना।'

ब्रिटिश प्राच्यवाद की तर्ज पर ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो भारतीय दर्शन में केवल तत्त्वचिंतन की ऊँचाइयाँ देखते हैं और भौतिक जीवन ('सोसियो-पॉलिटिकल' जैसी ठोस शै पर दार्शनिक विचार) से इस दर्शन का नाता देखने के लिए तैयार नहीं हैं। इन विद्वानों के लिए लोकायत का दर्शन ही इस स्थिति का अपवाद है।<sup>65</sup> रामविलास शर्मा को इस तरह के दावे पर ताज्जुब होता है। वे भारतीय दर्शन की यथार्थवादी उपलब्धियों को रेखांकित करना पसंद करते हैं, 'भारत के बारे में ज्यादातर लोग सोचते हैं कि यह आध्यात्मिक चिंतन का देश है। पर यहाँ पर भाषा-विज्ञान का विकास, गणित का विकास, स्थापत्य कौशल का विकास, यह सब यथार्थवादी (भौतिकवादी) दृष्टि के बिना असम्भव था। भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि है एक यथार्थवादी चिंतन। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, चरक का औषधि विज्ञान, पाणिनि का व्याकरण— भारत के यथार्थवादी चिंतन की ये परम उपलब्धियाँ अन्य किसी देश को नहीं मिलीं। यथार्थवाद को नकारना भारतीय संस्कृति के सबसे मूल्यवान तत्त्वों को नकारना है।' यह कहने के बाद वे अपना बौद्धिक कार्यक्रम भी बताते हैं, '... मैं ... तीन आचार्यों पर लिखना चाहता हूँ। ये तीन आचार्य हैं पाणिनि, चरक और कौटिल्य। पिछले डेढ़ सौ साल में इस बात का खूब प्रचार किया गया कि भारत आध्यात्मवादी देश है और यथार्थ जीवन उसके लिए महत्वहीन था। किंतु यथार्थ जीवन पर ध्यान दिये बिना पाणिनि, चरक और कौटिल्य की व्याख्या नहीं की जा सकती।' यह कहने के साथ-साथ रामविलास शर्मा भारतीय दर्शन के अध्ययन का एक पूरा कार्यक्रम भी प्रस्तावित किया, 'षड्दर्शन का अपना महत्त्व

<sup>65</sup> इस प्रवृत्ति का और परम्परा की विविधता के नाम पर उसके एकात्मक पहलुओं से इनकार करने का ताजा उदाहरण आदित्य निगम (2020) की पूर्वोद्धृत पुस्तक में मिलता है : 10-11. उनकी पुस्तक पर बोलते हुए मर्णोदर ठाकुर ने इस दृष्टि की आलोचना की है. मर्णोदर के अनुसार भारतीय दर्शन में ज्ञान का उद्देश्य ही 'दैहिक, दैविक और भौतिक' समस्याओं का निराकरण है. भारत में ऐसे ज्ञानोत्पादन को महत्त्वहीन बताया गया है जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग न करता हो. मर्णोदर का यह भी कहना था कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्साययन का कामसूत्र और याज्ञवल्क्य संहिता जैसे ग्रंथ न्याय दर्शन के समान सूत्र से बँधे हुए हैं. इस बहस को विस्तार से सुनने के लिए क्लिक करें, <https://youtu.be/Yj7YiRf5VvE>



है, लेकिन इनके बाहर जो दर्शन हैं, उनके साथ मिलाकर षड्दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। जैसे, षड्दर्शन में लोकायत नहीं है, सांख्य है। सांख्य का अध्ययन लोकायत के साथ करना चाहिए। षड्दर्शन में न्याय है, अनेकांतवाद नहीं है। न्याय का अध्ययन अनेकांतवाद के साथ मिला कर करना चाहिए। षड्दर्शन में उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदांत है, शून्यवाद नहीं है। वेदांत का अध्ययन शून्यवाद के साथ मिला कर करना चाहिए। इससे भारतीय दर्शन का भरा-पूरा चित्र दिखाई देने लगेगा।'

भारत की ज्ञान-परम्परा को समझने में ब्राह्मणवाद के प्रश्न का समाहार बहुत जरूरी है। रामविलास शर्मा इसे बहुत अच्छी तरह से समझते थे। वैदिक साहित्य के साथ पुरोहितों के सुलूक पर उन्हें बहुत आपत्ति थी। उस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था, 'ऋग्वेद का अधिक भाग कर्मकाण्ड के लिए नहीं रचा गया। वास्तव में वह कर्मकाण्ड का विरोधी है। ... वह शिल्पी वर्ग की रचना है। ... युधिष्ठिर मीमांसक ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना है कि कर्मकाण्डी पंडितों ने वैदिक ऋचाओं का कैसा दुरुपयोग किया है। ... भारत में पुरोहितों ने ऋग्वेद और उपनिषदों के दार्शनिक काव्य को धर्मशास्त्र बना डालने में कुछ उठा नहीं रखा। कुछ अपवादों को छोड़ अधिकांश पाश्चात्य विद्वान उन्हीं का अनुसरण करते हैं। दुर्भाग्य से भारत के अनेक मार्क्सवादी विवेचक ऋग्वेद को तो अपनी विचार परिधि के बाहर ही रखते हैं। उपनिषदों में भी भाववाद के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। ... वैदिक साहित्य की मूल धारा जीवन की स्वीकृति की धारा है। वह संसार के मिथ्या होने का प्रसार नहीं करती। वह मनुष्य के सामाजिक जीवन बिताने पर बहुत जोर देती है। ... ऋग्वेद में ऋषि अनेक प्रकार का शारीरिक श्रम करते हैं। किसी भी तरह का श्रम हो, उन्हें उससे घृणा नहीं है। इस शारीरिक श्रम के साथ वे काव्य भी रचते हैं, यज्ञ करते हैं, देवताओं के लिए स्तुतियाँ बनाते हैं। ... ऋग्वेद की यही विशेषता है कि यहाँ शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम का भेद मिट गया है। यह हमारा अतीत है और जिस भविष्य में हमें जाना है, वह भी यही है। ... ऋग्वेद के कवियों का दृष्टिकोण इहलोकवादी है, वह जीवन की स्वीकृति का दृष्टिकोण है। इसलिए वह परवर्ती संसारविमुख धारणाओं से अधिक प्रगतिशील है। ... ऋग्वैदिक काल भारत का प्रथम नवजागरण है, उपनिषद काल उसका दूसरा नवजागरण है। दोनों के बीच आता है ब्राह्मणकाल। इस मध्य काल में भूस्वामी वर्ग सुदृढ़ हुआ, उसे सुदृढ़ करने में पुरोहित वर्ग ने अपने कर्मकाण्ड का विस्तार किया।'

वैदिक काल और अंग्रेजों के आने तक के काल के बीच भारत में समाज और ज्ञान की संरचनाओं की क्या स्थिति थी? इस सवाल पर स्पष्ट राय बनाए बिना न तो प्राच्यवादियों की इस धारणा का खंडन किया जा सकता है कि वैदिक स्वर्णकाल के बाद भारत पतनशीलता के ढलान पर फिसलता चला गया, और अब उपनिवेशवाद की मेहरबानियाँ ही उसे फिर से उत्थान के मार्ग पर ले जा सकती हैं; न ही मैकॉले ऐंड कम्पनी के इस दावे का प्रतिकार किया जा सकता है कि संस्कृत और फ़ारसी समेत भारतीय भाषाओं के ज्ञान की गुणवत्ता संदिग्ध है। रामविलास शर्मा ने इस दुहरे कार्यभार की पूर्ति भक्तिकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक संरचनाओं की लोकतांत्रिक अंतर्वस्तु और जनोन्मुखता रेखांकित करने के ज़रिये की। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यह दरअसल लोकजागरण का युग था जिसके मर्म में अभिजात्य का निषेध, समतामूलकता, निर्धन और वंचित के साथ जुड़ाव और कर्मकांडीय पौरुहित्य का नकार था। इसे दिखाने के लिए उन्होंने तीनों प्रमुख संत कवियों, तुलसी-सूर-कबीर, को अपने विमर्श की परिधि में लिया। इस संबंध में उनके सूत्र-कथन इस प्रकार हैं, 'भक्ति का आधार वे किसान और कारीगर हैं जो अपने जीवन की परिस्थितियों से असंतुष्ट हैं, जो पुराने सामंती बंधनों से असंतुष्ट हैं, इनको तोड़ना चाहते हैं लेकिन चूँकि वर्ग संगठित नहीं है, वर्ग पूरी तरह से निर्मित नहीं है, इसलिए इनका सामाजिक संघर्ष भारतवर्ष में भक्ति का रूप लेता है और मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा करता है। मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा— यह भक्ति आंदोलन का मूल सूत्र है। तुम भले कुल में पैदा हुए, इसलिए राम के भक्त हो गये— भक्ति आंदोलन यह मानने के लिए तैयार नहीं। आभिजात्य का निषेध—यह भक्ति आन्दोलन की विशेषता है। अतः दक्षिण भारत, विशेषतः तमिलनाडु, से इसकी शुरुआत होती है। व्यापारिक पूँजीवाद का विकास सर्वाधिक वहाँ हुआ था। मात्र मदुरै को केंद्र बनाकर इसका इतिहास पढ़ें तो सारे भारत का इतिहास नये ढंग से दिखाई देगा। लोग भारत का

इतिहास पढ़ें तो सारे भारत का इतिहास नये ढंग से दिखाई देगा। लोग भारत के इतिहास को भी खण्डशः पढ़ते हैं। एशिया और यूरोप के साथ मिलाकर तो पढ़ते ही नहीं ... किंतु तमिलनाडु के इतिहास को जानना आवश्यक है। उत्तर भारत में कहाँ हमने क्या पाया और कहाँ क्या नहीं पाया, यह समझने के लिए तमिलनाडु का इतिहास जानना जरूरी है। ... भक्ति आंदोलन बहुत बड़ा सूत्र है। वह कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक फैला हुआ है। भक्ति आंदोलन को ही आदमी सूत्र मान कर चले तो भारतीय साहित्य की बहुत बड़ी सामान्य विशेषता को पकड़ सकता है।'

निर्गुण-सगुण के बीच भेद दिखाने में फँसे हुए हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के विपरीत रामविलास शर्मा ने तुलसी, सूर और कबीर के बीच भेद दिखाने के बजाय समानताएँ तलाशीं। वे कहते हैं, 'वेद मनुष्यकृत नहीं हैं, ईश्वरकृत हैं, उनको थोड़े से आदमी ही समझ सकते हैं, इस प्रचार से पुरोहित वर्ग को लाभ होता था। तुलसीदास का मन इस प्रचार से मुक्त है। ... तुलसी और कबीर की जो सामान्य भूमि है, वह ऋग्वेद की उतनी नहीं जितनी उपनिषदों की है। उपनिषदों में ब्रह्म की अद्वैत सत्ता का प्रतिपादन है। इस सत्ता में कबीर और तुलसी दोनों का विश्वास है। ... तुलसीदास दरिद्रता के प्रति जितने सचेत हैं उतना सोलहवीं-सत्रहवीं सदी का कोई कवि नहीं है। और वे जो गरीबी देखते हैं वह केवल गाँवों की गरीबी नहीं है, शहरों की भी गरीबी है। ... दरिद्रता के प्रति यह सजगता निर्गुण-सगुण के भेद को मिटा देती है। देखना यह चाहिए कि यथार्थ इन कवियों में कहाँ तक प्रतिबिम्बित हुआ है, वर्ण-विभाजन इनमें कहाँ तक प्रतिबिम्बित हुआ है। कबीर में ये चीजें पकड़ने में ज्यादा आसानी है। ... सूर, तुलसी और कबीर तीनों भिन्न-भिन्न सामाजिक परिवेशों का बहुत अच्छी तरह से, बहुत गहराई से चित्रण करते हैं। कबीर जिस दुनिया में रहते हैं वह बाजार वाली दुनिया है, वहाँ माल लेकर बेचने जाना पड़ता है। ... वे शहर के रहने वाले हैं, बहुत लोगों से मिलते हैं ... लेकिन खेती की दुनिया से काफ़ी दूर हैं। ... कारीगर तबके के प्रतिनिधि हैं कबीरदास। ... पशुचारण सभ्यता के जो अवशेष सोलहवीं सदी में थे, वे सूरदास में परिलक्षित होते हैं। यह उनका सामाजिक परिवेश है। ... गाँव के पास जो आदमी सबसे ज्यादा रहता है, वह तुलसीदास है। ... किसान को तुलसीदास सबसे अच्छी तरह जानते हैं। ... ये तीन तरह के सगुण परिवेश हैं जो इन भक्तों के यहाँ परिलक्षित हैं। सगुण-निर्गुण विवाद पंडितों का विवाद है। जो यथार्थ ढूँढ़ने चलेगा, वह इन तीन तरह के परिवेशों से टकराएगा। ये तीनों परिवेश एक-दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। ... जहाँ तक निम्न जातियों का सवाल है, यह बात सही है कि निर्गुण पंथ में बहुत-सी निम्न जातियाँ रही हैं। इससे पहले सिद्धों और नाथपंथियों में भी बहुत सी निम्न जातियाँ रही हैं। लेकिन यह बात भी सही है कि वैष्णवों में भी बहुत से निम्न जातियों के लोग रहे हैं। सिक्खों को अगर निर्गुणपंथी माना जाए तो इनके यहाँ बहुत से व्यवसायी रहे हैं।'

लोकजागरण और नवजागरण की तीन मंजिलों के बारे में रामविलास शर्मा की चर्चा एक तरह का मास्टर-स्ट्रोक है जो हिंदी ही नहीं, किसी भी अन्य भाषा का बुद्धिजीवी नहीं कर पाया। वे कहते हैं, 'जो कार्य संस्कृत साहित्य नहीं कर सका, वह अखिल भारतीय स्तर पर भक्ति साहित्य ने किया। ... 1857 का संग्राम हमारा जातीय संग्राम है और भारत का राष्ट्रीय संग्राम भी है। उसका असर सारे देश पर हुआ, हिंदीभाषी प्रदेश पर सबसे ज्यादा हुआ। ... सन् 57 का स्वाधीनता संग्राम हिंदी-प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग है। ... भारतेंदु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर ग़दर से प्रभावित है, इसका पहला प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य करके, उन्हें संगठित और आंदोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य-पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया। दूसरा प्रमाण यह है कि इस साहित्य का माध्यम संस्कृतगर्भित भाषा नहीं है, जैसे कि वह बांग्ला साहित्य में है, वरन वह शहरी बोलचाल की भाषा है और जनपदीय उपभाषाओं से अपना नाता जोड़े हुए है। ... हिंदी नवजागरण की तीसरी मंजिल महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। ... अभी तक हिंदी का ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ जो साहित्यकार हो और उसे अर्थशास्त्र का इतना गहरा ज्ञान भी हो। ... राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ

भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर उन्होंने ध्यान दिया और यह जानने की कोशिश की कि हम कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी सम्पादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वे सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए। ... जिस उत्सर्ग की भावना से द्विवेदीजी प्रेरित थे, उसे समझने में स्वाधीन भारत के साहित्यकारों को कुछ कठिनाई हो सकती है। ... रामचंद्र शुक्ल ने विश्व प्रपंच की भूमिका लिख कर दिखाया कि प्राचीन दर्शन और आधुनिक विज्ञान का अध्ययन और विवेचन नवजागरण के लिए क्यों ज़रूरी है और उसे कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। ... शुक्लजी मनुष्य के इंद्रियबोध को, विचारबोध को और उसके भावबोध को— तीनों को समष्टि के रूप में देखते हैं। तीनों को मिला कर देखते हैं। ... इसीलिए मैं उन्हें भौतिकवादी आलोचक के रूप में देखता हूँ। ... शुक्लजी न होते तो जायसी को कोई जानता भी नहीं। ... मैथिलीशरण गुप्तजी ने सबसे बड़ा काम यह किया कि काव्य में ब्रजभाषा के स्थान पर गद्य में हिंदी को प्रतिष्ठित किया। उसे ऐसा रूप दिया कि वह हिंदी सारे हिंदी-प्रदेश में लोकप्रिय हुई।'

### रामविलासीय पुनर्रचना के विरोधाभास

रामविलास शर्मा के आलोचकों का उनके ऊपर पुराना आरोप है कि वे अतिलेखन करते थे। वे पहले से तय कर लेते थे कि उन्हें क्या साबित करना है, और फिर पूरी किताब वही साबित करने के लिए लिख मारते थे। ये आलोचक प्रमाण के तौर पर कह सकते हैं कि अस्सी और नब्बे के दशकों में आठ दीर्घकाय किताबें लिख देना इसका सबूत है। अपने जीवन के अंतिम दस वर्षों में उन्होंने *हिंदी प्रदेश और भारतीय संस्कृति* जैसा द्विखंडीय महाग्रंथ तो लिखा ही, साथ में गाँधी, लोहिया और आम्बेडकर के ऊपर विस्तार से विश्लेषण करने वाला विशाल ग्रंथ भी रचा। जहाँ तक पहले से तय करने या प्रयोजनमूलक लेखन का सवाल है, यह इलज़ाम तो मार्क्स समेत ज़्यादातर विमर्शकारों पर लगाया जा सकता है। मैंने ऐसी अनगिनत रचनाएँ पढ़ीं हैं जिनमें विमर्शकार शुरुआत में ही कह देता है कि वह क्या साबित करना चाहता है। यानी उपसंहार पहले ही लिख दिया जाता है। इसके बाद फिर पूरी बौद्धिक कवायद होती है, उसी पूर्वनिर्धारित लक्ष्य को वेधने के लिए। मेरा विचार है कि ऐसी रचनाओं की गुणवत्ता और उपयोगिता केवल उनकी प्रयोजनमूलकता के कारण खारिज नहीं की जा सकती।

अतिलेखन या बौद्धिक बहु-उत्पादन का आरोप उस अनुसंधान पद्धति के प्रति नाजानकारी का नतीजा है जो रामविलास शर्मा द्वारा अपनायी जाती थी। समाज-विज्ञान के विश्वविद्यालयीय क्षेत्र में सक्रिय विद्वानों का तरीका यह होता है कि वे किसी विषय पर लिखने से पहले उसके बारे में और उससे संबंधित उपलब्ध विद्वत्ता अधिक से अधिक मात्रा में अर्जित करने का प्रयास करते हैं। इस काम में उन्हें काफ़ी समय लगता है। अधिकतर समाज-वैज्ञानिकों की रचनाओं का एक अच्छा-खासा हिस्सा इस विद्वत्ता से मुठभेड़ करने और कभी-कभी उससे सकारात्मक संबंध स्थापित करने के लिए समर्पित होता है। अधिकार रचनाओं में इस प्रकार लिखा गया साहित्य विद्वानों के बीच के संवाद की शकल ले लेता है। इसलिए कहा भी जाता है कि समाज-वैज्ञानिक आम तौर पर अन्य और संबंधित समाज-वैज्ञानिकों के लिए लिखता है। वह मुख्य तौर पर भाष्यों का भाष्य करता रहता है। यही एक वह 'अकादमीयता' जिसे समाज-विज्ञान की दुनिया बड़े ध्यान से सुरक्षित रखती है, और जो इस 'अकादमीयता' से हटने की जुर्रत करता है, उसे आड़े हाथों लेती है, उसका बहिर्वेशन करती है।

इस प्रक्रिया से अलग हटते हुए रामविलास शर्मा जिन विषयों पर लिखते हैं, उनसे संबंधित मूल-ग्रंथों पर अपना ध्यान टिकाते हैं, न कि उन पर किये गये भाष्यों और टीका-टिप्पणियों पर। मार्क्सवाद पर लिखते समय वे मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा उत्पादित साहित्य पर ख़ास ध्यान नहीं देते, जब तक कि वह सीधे-सीधे उनके काम का न हो। वे सीधे मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्तालिन-माओ को पढ़ते हैं, और जो समझ बनती है, उसे ही लेखन में संसाधित करते हैं। यही पद्धति उन्होंने गाँधी, लोहिया और आम्बेडकर का अध्ययन करते हुए अपनायी। बजाय इसके कि वे भीखू पारेख या

एंथनी परेल के ज़रिये गाँधी पर अपनी राय बनाएँ, उन्होंने गाँधी का पूरा वांगमय पढ़ डाला और उस पर सीधे अपने विचार व्यक्त किये। आम्बेडकर और लोहिया पर लिखे गए साहित्य के बजाय उन्होंने उनकी मूल रचनाएँ पढ़ीं, और फिर विश्लेषण किया। जैसी भी हो, वे अपनी बात कहते हैं। यही कारण है कि रामविलास शर्मा की पुस्तकों में ग्रंथावली ज्यादातर छोटी होती है। ज़ाहिर है कि हर बौद्धिक रणनीति की अपनी खूबियाँ-खामियाँ होती हैं। रामविलासीय विमर्श भी अपनी इस रणनीति के कारण विचारों की दुनिया में नये विकासक्रम का लाभ उठाने से वंचित रहता हुआ दिखता है। मसलन, वे अस्सी और नब्बे के दशक में उपनिवेशवाद की आलोचना के नये तेवरों से वे नावाकिफ़ रह जाते हैं। वे इस आलोचना से पश्चिमी आधुनिकता की आलोचना को जोड़ने के बारे में सोचते भी नहीं। खासकर स्पेनी और पुर्तगाली उपनिवेशवाद पर पढ़ने वाली नयी रोशनी उन तक नहीं पहुँचती। युरोकेंद्रीयता की तेज़ी से उभरी आलोचना, मार्क्सवाद से ही प्रभावित वर्ल्ड सिस्टम थियरी, उसके इर्दगिर्द रचा गया विचार-साहित्य और उदीयमान हिस्पानिक विद्वत्ता उनकी जानकारियों का अंग नहीं बन पाती। रामविलास शर्मा को इस कमी के अंदेशे का ध्यान बिल्कुल न आया हो, ऐसा नहीं है। 1988 में सुधीर रंजन सिंह से बातें करते हुए उन्होंने यह माना था कि उन्हें मार्क्सवाद पर लिखने वालों को पढ़ने का समय ही नहीं मिला ('हमने नहीं पढ़ा, यह हमारी कमजोरी है'), क्योंकि 'क्योंकि हम तो मार्क्स को पढ़ कर उन्हीं के भीतर से उन्हें समझने' की कोशिश करते रहे।<sup>66</sup>

ऊपरी तौर पर रामविलास शर्मा कहते हुए लग सकते हैं कि जो उनके (युरोप) के पास है, वह हमारे पास भी था, पहले से था, और युरोप ने जो बनाया है उसमें दरअसल हमारा भी काफ़ी योगदान है। लेकिन, उनके कृतित्व का ऐसा पाठ एक तरह का सरलीकरण ही है। मेरा विचार है कि जिसे मार्टिन बरनाल ने 1987 से 2006 के बीच प्रकाशित तीन खंडों में फैले अपने बहुचर्चित-बहुविवादित महाग्रंथ में क्लासिकल सभ्यता के अफ़्रो-एशियायी आधारों की संज्ञा दी है, हिंदी में रामविलास शर्मा छोटे पैमाने पर कुछ-कुछ वैसा ही करते नज़र आते हैं।<sup>67</sup> इसी तरह मार्क्स को युरोकेंद्रित माने बिना उनका एक भिन्न संस्करण तैयार करने का उनका आग्रह नव-मार्क्सवादी समीर अमीन के इस दावे की याद दिला देता है कि युरोकेंद्रीयता मार्क्स की समस्या नहीं थी, बल्कि उनके बाद के मार्क्सवादियों की है।<sup>68</sup> अमीन के साथ-साथ वासिलिस लैम्ब्रोपोल्लिस ने भी *राइज़ ऑफ़ युरोसेंट्रिज़म* में बरनाल के इस दावे को स्वीकार किया है कि यूनानियों को दर्शन-संस्कृति के रूप में जो मिला, उसमें बुनियादी तौर पर मिस्र (अफ़्रीका-एशिया) की भूमिका थी। रामविलासीय उद्यम के आग्रह की मुख्य प्रकृति भी यही है।<sup>69</sup> यह अलग बात है कि इन विद्वानों ने युरोप द्वारा यूनान के विनियोग के जिस तथ्य को स्वीकार किया है, उसकी चेतना उतने मुखर रूप से रामविलास शर्मा के पास नहीं है।

इसी तरह से इमानुएल वालरस्टीन ने जिसे 'युरेशियाई एचुमेने' या युरो-एशियायी सभ्यतामूलक नैरंतर्य<sup>70</sup> की संज्ञा दी है, रामविलास शर्मा के उद्यम में उसकी झलक बहुत ज़्यादा है। जब वे युरोपीय भौतिकवाद और भारतीय दार्शनिक यथार्थवाद में समानताएँ और भिन्नताएँ दिखाते हैं, जब वे एशियायी यूनान में दार्शनिक जागरण और उपनिषदों के अंतर्संबंधों की विस्तृत चर्चा करते हैं, जब वे भारत और युरोप के नवजागरणों के प्रथम और द्वितीय उत्थानों को रेखांकित करते हैं— तो प्रतीत होता है कि उनका इशारा युरेशियाई एचुमेने की तरफ़ ही इशारा है। लेकिन, इसके कुछ विरोधाभास भी हैं जो रामविलास शर्मा के विमर्श में देखे जा सकते हैं, और जिनकी तरफ़ वालरस्टीन ने संकेत किया है।

<sup>66</sup> देखें, सुधीर रंजन सिंह से रामविलास शर्मा की बातचीत, *मेरे साक्षात्कार* (1994), पूर्वोद्धृत.

<sup>67</sup> मार्टिन बरनाल (1987, 1991, 2006), *ब्लैक एथेना : द अफ़्रोएशियाटिक रूट्स ऑफ़ क्लासिकल सिविलाइज़ेशन* (तीन खंड), रटगर युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी.

<sup>68</sup> समीर अमीन (2009), पूर्वोद्धृत : 191, 223-224.

<sup>69</sup>

<sup>70</sup> देखें, इमानुएल वालरस्टीन (1997), पूर्वोद्धृत. एचुमेने एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है वास्य क्षेत्र. विचारों की दुनिया में इस यूनानी शब्द का भी ईसाईकरण हुआ है और उसे ईसायत के एकीकरण के लिए इस्तेमाल किया जाता है. लेकिन, यहाँ यूरेशियन एचुमेने को युरोप और एशिया को मिला कर हजारों साल से बन रहे एक ऐसे सभ्यतामूलक संसार के अर्थों में इस्तेमाल किया गया है जिसमें अरब, चीन और भारत का योगदान युरोप के योगदान से कम नहीं है.

एशिया और युरोप के सभ्यतामूलक नैरंतर्य की दावेदारी की पहली और सबसे बड़ी समस्या है कि यह दक्षिण अमेरिकी, कैरेबियन और अफ्रीकी संसार को अपने दायरे में नहीं लेता (आंद्रे गुंदर फ्रेंक ने इसमें अफ्रीका को जोड़ने की कोशिश की है, लेकिन वहाँ भी उनका जोर एशिया पर ही रहता है)। रामविलास शर्मा के विमर्श के साथ भी यही समस्या है। वे युरोप और भारत के बीच एशिया को दी गई प्रधानता के जरिये एक तरह की सजातीयता दिखाने में मगन हैं, जबकि उपनिवेशवाद का पहला और भयानक हिंसा से भरा चरण दक्षिण अमेरिका (जिस आज लातीनी अमेरिका कहा जाता है) में घटित हुआ था। उपनिवेशवाद ने अपने बौद्धिक-सामाजिक-सांस्कृतिक प्रयोगों की शुरुआत इसी दौर में की थी। बाद में फ्रांसीसी और ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने कई संदर्भों में उपनिवेशीकरण के इन प्रारूपों को जारी रखा। भाषाई उपनिवेशीकरण के बारे में तो ख़ात तौर पर यह बात कही जा सकती है। इसी तरह अफ्रीका को नस्लवाद और दासप्रथा के रूप में उपनिवेशवाद का जो दंश भोगना पड़ा है, उसकी कोई सीमा नहीं है। धरती के इन घोर उत्पीड़ित हिस्सों के ज्ञान, दर्शन और इतिहास की झलक भी इस युरेशियाई एचुमेने से गायब है। इससे प्रश्न उठता है कि क्या युरोसेंट्रिज़म की जगह युरेशिया-सेंट्रिज़म की स्थापना करना युरोकेंद्रीयता के प्रतिरोध का मकसद हो सकता है ?

इसी से जुड़ी हुई एक समस्या यह भी है कि युरोएशियाई एचुमेने की अवधारणा के आधारभूत मानक युरोपीय वैकासिक मानकों से लिए गए प्रतीत होते हैं। मसलन, पुराने (कथित) समाज का विघटन और नया समाज बनने का प्रारब्ध, ग्रामीण के ऊपर नागर सभ्यता को प्राथमिकता, कृषि और ज़मीन से जुड़ी हुई आमदनी के ढाँचे के ऊपर पगारजीवी श्रम और कारखाना आधारित उत्पादन को श्रेयस्कर मानना, कथित बरबरता द्वारा हर हालत में सभ्यता के सामने समर्पण करने का प्रारब्ध, भाववादी चिंतन के ऊपर भौतिकवाद की श्रेष्ठता का विचार, धर्मविधियों पर आधारित मानस के मुकाबले विज्ञानसम्मत चिंतन को प्रमुखता देने का आग्रह, वगैरह। ये सभी प्राथमिकताएँ रामविलास शर्मा के चिंतन के नियामक बिंदुओं के रूप में सामने आती हैं। कुछ मामलों में उनकी पसंद-नापसंद बहुत कड़ी है (विज्ञानवाद की परवाह किये बगैर विज्ञान की तरफ़दारी, और ग्रामीण के ऊपर शहरी सभ्यता की सराहना)। सभी समाजों में पुरोहित वर्ग तो होता ही है, पर रामविलास शर्मा इस वर्ग को मिलने वाली प्राथमिकता को हमेशा कड़ी निगाह से देखते हैं। कुछ मामलों में ऐसा लगता है कि वे बिना कोई विशेष विचार किये युरोपीय द्विभाजनों को स्वीकार कर रहे हैं (बरबर बनाम सभ्य का द्विभाजन)। चूँकि उन्हें पूँजीवाद के प्रारम्भिक रूप दिखाने हैं इसलिए पगारजीवी श्रम (ददनी प्रथा) दिखाने पर उनका जोर बहुत है। भौतिकवाद का झंडा उन्हें हर जगह बुलंद रखना है, मानो दर्शन के क्षेत्र में कोई दो वायुरोधक कम्पार्टमेंट बने हों— एक में भौतिकवाद रहता हो और एक में भाववाद। इन दोनों के परस्परव्यापी क्षेत्र उन्हें न के बराबर ही दिखते हैं। वे यह भी नहीं देख पाते कि जिस युरोपीय पुनर्जागरण को मार्क्सवाद मानवीय इतिहास की सर्वाधिक प्रगतिशील क्रांति के रूप में पेश करता है, और जिसे युरोपीय ज्ञानोदय ने वैज्ञानिक चिंतन और तर्कणावाद का जयघोष करके उन्नीसवीं सदी की युरोपीय विद्वत्ता को मानकीय आधार दिया, उसने बुनियादी रूप से युरोक्रीश्चियनिटी की आधारभूत धारणाओं पर मानवतावाद, सेकुलरवाद और विज्ञानवाद का मुलम्मा चढ़ा कर सारी दुनिया को थमा दिया है। इससे जो आधुनिकता बनी है, उसे वाल्टर मिगनोलो ने जादू का एक ऐसा पिटारा कहा है जिसे 'अनपैक' करने की विमर्शी शर्ते पश्चिम ही तय करता है।

प्रणय कृष्ण ने जिसे रामविलास शर्मा द्वारा मार्क्स की युरोकेंद्रीयता का परिहार करने की कोशिश कहा है, उसे तीन हिस्सों में बाँट कर समझा जा सकता है। पहला, हिंदी की दुनिया में मार्क्स को उनके भारत संबंधी और पूर्वी समाजों से संबंधित अवलोकनों से बचाने के लिए उन्होंने तर्क दिया कि मार्क्स के विचार विकासमान थे, और जैसा वे पहले सोचते थे, बाद में उनका चिंतन वैसा नहीं रह गया। उनका आग्रह था कि मार्क्स के इस बाद वाले चिंतन पर जोर दिया जाना चाहिए। अपनी बात को विस्तार से समझाने के लिए उन्होंने एक विराट विमर्श रचा। मार्क्स को ग़ैर-युरोपीय समाजों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने वालों की श्रेणी से निकालने की इतनी बड़ी कोशिश शायद ही किसी और ने की होगी। इन पृष्ठों में रामविलास शर्मा मार्क्स पर मुखर रूप से मौजूद हिगेल (उन्हीं के शब्दों में 'युरोपकेंद्रित नस्लवादी इतिहास-

दर्शन') के प्रभाव को स्वीकार करते हुए बताते हैं कि इस असर के बावजूद मार्क्स अपने विचारों का विकास करने में कामयाब रहे। यहाँ एक दिलचस्प रामविलासीय तर्क यह भी निकल कर आता है कि जब मार्क्स और एंगेल्स साम्यवादी दृष्टि को प्रमुखता देते थे तो उन्हें एशियायी समाजों का भविष्य अंधकारपूर्ण लगने लगता था (मसलन, फ्रांस में रहते हुए लिखे गए *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में); और जब वे क्रांतिकारी जनवाद की दृष्टि अपनाते थे तो उन्हें इन समाजों में सकारात्मक पहलू नज़र आने लगते थे (जैसे ब्रिटेन के चार्टिस्ट आंदोलन के संपर्क में आने पर)। इन अवलोकनों के दौरान रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद में ऐतिहासिक नियतिवाद, पूँजीवाद के अतिमूल्यन और मज़दूर वर्ग के अतिमूल्यन की समस्याओं पर अपनी उँगली रखी है। लेकिन, साम्यवादी दृष्टि और क्रांतिकारी जनवादी दृष्टि का यह अंतर इस समस्या का उत्तर नहीं देता कि पूरी बीसवीं सदी में मार्क्सवाद अपनी संभावनाओं में हुए क्षय को क्यों नहीं रोक पाया। यह भी पता नहीं चल पाता कि साम्यवादी दृष्टि मार्क्स को ग़ैर-पश्चिम के तिरस्कार की तरफ क्यों ले जाती थी, और क्रांतिकारी जनवाद कैसे ग़ैर-पश्चिम के प्रति उनके भीतर हमदर्दी पैदा कर देता था। आखिर *भारतीय नवजागरण और युरोप* में रामविलास शर्मा ने ही बताया है कि किस तरह क्रांतिकारी जनवाद साम्यवाद की पहली मंज़िल है।

रामविलास शर्मा का दूसरा तर्क यह था कि मार्क्स को उनके कुछ तथ्यात्मक अवलोकनों या भविष्यवाणियों की कसौटी पर कसने के बजाय उनका अध्ययन उनकी चिंतन-पद्धति के लिए करना चाहिए। यह अलग बात है कि रामविलास शर्मा पर मार्क्स पर व्यंग्य भी करते हैं कि भारत के संबंध में उनकी 'डायलेक्टिक्स' कहाँ चली जाती है। तीसरा, भारत की भाषा समस्या के संदर्भ में 'एक भाषा-एक राष्ट्र' के प्रचलित मार्क्सवादी आग्रह के बजाय उन्होंने बहुजातीय राष्ट्रवाद-बहुभाषी राष्ट्रवाद के सिद्धांत की पैरोकारी की। इसके लिए वे मार्क्सवाद से व्यापारिक पूँजी की श्रेणी को निकाल कर लाए और भारत के संदर्भ में उसका ज़बरदस्त मूल्यवर्धन किया। उन्होंने इस बात की कोई परवाह नहीं की कि उनके विचारों और अवधारणाओं के मूल स्रोत अनिवार्य तौर पर मार्क्सवादी ही होने चाहिए। मसलन, हिंदी जाति की थीसिस का सूत्र उन्हें धीरेंद्र वर्मा (जिनका मार्क्सवाद से कोई नाता नहीं था) की एक रचना में मिला। हिंदी को सम्पर्क भाषा बनाने के 'राष्ट्रवादी' आग्रह का स्रोत उन्हें गाँधी के भाषा संबंधी विचारों में प्राप्त हुआ।

इस तथ्य की चर्चा बहुत कम होती है कि भाषा के संदर्भ में रामविलास शर्मा इंग्लैण्ड की बजाय स्विट्ज़रलैण्ड के नमूने को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते थे। स्विस् संविधान तीन-तीन भाषाओं को राज-भाषा का दर्जा देता है। चूँकि इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व केल्टिक परिधि के दमन पर आधारित है, इसलिए उनकी निगाह में भाषाओं का दमन करने वाला राष्ट्रवाद भारत के लिए आदर्श नहीं हो सकता। 1955 में कम्युनिस्ट पार्टी के मुख पत्र *न्यू एज* में प्रकाशित उनका अंग्रेज़ी में लिखा लम्बा विश्लेषणात्मक लेख 'दि क्वेश्चन ऑफ़ ऑब्लिगेटरी स्टेट लैंग्वेज ऑफ़ इण्डिया' एक ऐसी बेहतरीन कृति है जिसका अध्ययन उन सभी लोगों को करना चाहिए जिन्हें भारत की भाषा-समस्या के हल में दिलचस्पी है। रामविलास शर्मा ने इस लेख में अनिवार्य राज-भाषा और राज-भाषा की अवधारणाओं में फ़र्क करते हुए कहा कि देशी जड़ों वाली राज-भाषा आज़ाद भारत की एक आवश्यकता है, पर अनिवार्य राज-भाषा एक जन-विरोधी और राष्ट्र-विरोधी तर्क है। उन्होंने पूछा : 'संविधान में हिंदी को राज-भाषा का पद दिया गया है, किंतु इस राज-भाषा का कार्यक्षेत्र क्या है? अंग्रेज़ी ने राज-भाषा बन कर प्रादेशिक भाषाओं के बहुत से अधिकार छीन लिए थे। विभिन्न राज्यों को स्वायत्त शासन के काफ़ी अधिकार दिये बिना अंग्रेज़ी की जगह हिंदी को देने का मतलब है, दूसरी भाषाओं के अधिकार नियंत्रित करना। ... अपने-अपने प्रांतों में प्रादेशिक भाषाएँ ज्ञान-विज्ञान और राजकाज की भाषाएँ बन जाएँगी, तभी हिंदी सचमुच राष्ट्र-भाषा बनेगी।'<sup>71</sup>

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि मार्क्स को 'डिकोलोनियल' कहना अपने आप में एक विरोधाभासी वक्तव्य है, क्योंकि उनका शास्त्र कहीं-कहीं उपनिवेशवाद की मुँह देखी आलोचना करता है, अधिकतर वह उपनिवेशवाद की

<sup>71</sup> रामविलास शर्मा के अंग्रेज़ी लेख के लिए देखें : सुरेश के. शर्मा (सं.) (2006), *लैंग्वेज इन कंटेम्परेरी इण्डिया*, पहला खण्ड, विस्टा इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 127-151.

आलोचना से मुँह चुराता है और कई जगहों पर उपनिवेशवाद को भारत के युरोपीयकरण के अनभिप्रेत ऐतिहासिक एजेंट के तौर पर पेश करता है। रामविलास शर्मा का बौद्धिक उद्यम भी इस विरोधाभास का उस समय बहुत बड़ा शिकार दिखने लगता है जब वे भारत के युरोपीयकरण के मार्क्सवादी स्वप्न को धता बताते हुए पूर्व की धरती में ही उसके विकास की संभावनाओं की बहुमुखी दावेदारी करते हैं। यह रामविलासीय आग्रह कि उनके इन सूत्रीकरणों को मार्क्सवाद मान लिया जाना चाहिए— हिंदी जगत के एक बड़े हिस्से को तो स्वीकार्य हुआ है, लेकिन इससे बाहर का कोई भी मार्क्सवादी विद्वान या कोई भी मार्क्सवादी प्रतिष्ठान (बौद्धिक या राजनीतिक) ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं है। इस लिहाज़ से रामविलास शर्मा की गति 'बौद्ध' आम्बेडकर जैसी प्रतीत होती है। बुद्ध धर्म का पुनर्संस्कार करने का आम्बेडकर का प्रयास भले ही दलित विमर्श का एक अहम हिस्सा बन गया हो, लेकिन बौद्ध प्रतिष्ठान, विद्वान और व्याख्याता उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि रामविलास शर्मा स्वयं को मार्क्सवाद और आधुनिकता के खूँटे से बाँधे रखना चाहते थे। यद्यपि उनके पास औपनिवेशिक विमर्श का मर्म समझने की अनूठी तलस्पर्शी दृष्टि थी, लेकिन संभवतः आधुनिकता की आलोचना (जो अस्सी के दशक में बड़े प्रभावशाली ढंग से उभरने लगी थी) के साथ न जुड़ने के कारण वे कई जगहों पर भारतीय ज्ञान की प्राचीन उपलब्धियों को मार्क्स, युरोपीय पुनर्जागरण और ज्ञानोदय की कसौटियों पर कसने की कोशिश करते हुए दिखते हैं। दरअसल, उन्हें ऐसा करने की कोई ज़रूरत नहीं थी। उनसे ज़्यादा इस बात को कौन जान सकता था कि यथार्थवाद (वे भौतिकवाद को इसी अधिक व्यापक श्रेणी के रूप में पेश करना पसंद करते थे) और आध्यात्मिकता आपस में संघर्षरत द्विभाजन न हो कर परस्पर अवलम्बित और साथ-साथ विकसित होने वाली श्रेणियाँ हैं। दोनों में किसी एक को हद से ज़्यादा प्रमुखता दे कर कोई समाज उत्तरजीविता नहीं प्राप्त कर सकता।

दूसरे, रामविलासीय विमर्श की खूबियों और अंतर्दृष्टियों से मुँह मोड़े बिना यह सवाल उठाना ज़रूरी है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के युरोप-कीलित किरदार को छिपाने से क्या हासिल होगा? जिस रूसी क्रांति का संबंध पूर्व से दिखाने में रामविलास शर्मा ने ढेर सारे पृष्ठ खर्च किये, उसे उस क्रांति को अंजाम देने वाले ही युरोप में होने वाली क्रांतियों का अंग मानते थे। लेनिन और उनकी पार्टी ने रूस को युरोप का अंग साबित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इसी तरह युरोप, खासकर पश्चिमी युरोप ने जिस तरह एशियाटिक यूनान का अपने वर्चस्वी हितों के लिए विनियोग किया, उसकी कहानी कही जा चुकी है। इन कहानियों को छिपाया नहीं जा सकता। इन्हें स्वीकार करके ही नये विमर्शों की स्थापना और विकास किया जा सकता है।

अपने साक्षात्कार में रामविलास शर्मा ने कहा था कि 'मुझे यह दिखाना था कि तुम जिस दर्शन को मार्क्सवाद की भूमि मानते हो (यानी हिगेल और फ़ायरबाख़ वगैरह का युरोपीय दर्शन), उससे अधिक समर्थ, अधिक सशक्त एक दर्शन हमारे यहाँ मौजूद है और ऋग्वेद से लेकर आज तक विकसित होता रहा है। दर्शनशास्त्र के विकास की इतनी विशद परम्परा यूनान पर सिकंदर के आक्रमण के बाद ख़त्म हो गई।'<sup>72</sup> रामविलास शर्मा द्वारा 'डिकोलोनियल' मार्क्स गढ़ने के उद्यम में निहित विरोधाभासों की इस कथन से ज़्यादा स्पष्ट अभिव्यक्ति कहीं और नहीं मिल सकती। भारतीय दर्शन से पूरी तरह अपरिचित रह कर उसके अस्तित्व को ही न स्वीकारने वाले कार्ल मार्क्स को भारतीय दर्शन की ज़मीन देने की कोशिश को और क्या कहा जा सकता है?

<sup>72</sup> देखें, रामविलास शर्मा के साथ मुक्ता की बातचीत, 'मार्क्सवादी हूँ इसलिए मार्क्स की सभी बातों को स्वीकार नहीं करता!', *सृजन मूल्यांकन* : 3, अतिथि संपादक : प्रकाश मनु, जुलाई, 2001.